खण्ड 3

वास्तुशास्त्र के आचार्य एवं मानक ग्रन्थ

खण्ड तीन का परिचय

इस खण्ड का नाम वास्तुशास्त्र के आचार्य एवं मानक ग्रन्थ है। खण्ड तीन के वर्णन में आप देखेंगें कि वास्तुशास्त्र की विकास यात्रा में किन आचार्यों का योगदान है। जिनके शोध और विचारों से इस विद्या को आगे बढने में सहायता मिली है। वास्तुशास्त्र के विभिन्न आचार्यो ने अपने-अपने ग्रन्थों में अनेक विचार प्रस्तुत किये हैं। इस खण्ड में उनके ग्रन्थों के विषय में भी आपको जानकारी प्राप्त होगी। साथ ही प्राचीन वास्तुकला का भी अध्ययन होगा। भारत के अतिरिक्त वास्तु की परम्परा भी है। खण्ड तीन के अन्तिम भाग में आप इसी प्रकार के तथ्यों का अध्ययन करेंगें जिससे पाश्चात्य परम्परा की झलक भी प्राप्त होगी। यहां पर अध्ययन की सुविधा के लिए 06 शीर्षकों में विषयवस्तु के विवेचन का प्रस्तुतीकरण विस्तार से किया गया है। इस खण्ड की निम्नलिखित इकाइयां है-

1. वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक
2. वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्य
3. वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ (भाग-1)
4. वास्तुशास्त्र के मानकग्रन्थ (भाग-2)
5. प्राचीन भारतीय वास्तुकला
6 भारतेतर वास्तु-परम्परा

इस प्रकार तृतीय खण्ड के अध्ययन से आप वास्तु के विभिन्न आचार्य एवं उनके मानक ग्रन्थ के विषय में वर्णित विभिन्न विषयों की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् उनकी व्याख्या करने में सक्षम हो सकेंगे।

इकाई 1 वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक

इकाई की संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक

1.3 वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों का परिचय

1.4 सारांश

1.5 शब्दावली

1.6 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

1.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1.0 उद्देश्य

वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक नामक इस इकाई के अध्ययन के बाद आप समझ पायेंगे किः

- वास्तुशास्त्र का अर्थ क्या है?
- वास्तुशास्त्र की उत्पत्ति के मूल में कौन-कौन से प्रवर्तक आचार्य रहे?
- वास्तुशास्त्र की विधा मे विद्यमान बीज तथा संपूर्ण वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकों का स्पष्ट स्वरूप?
- वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्य कौन-कौन हैं?
- वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यो के व्यक्तित्व व कृतित्व का परिचय?
- वास्तुशास्त्र की आचार्य परम्परा को जानकर वास्तुशास्त्र के अध्ययन में रुचि जागृत होगी।

1.1 प्रस्तावना

'वास्तु' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'वस्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है 'वसना' अर्थात् 'निवास करना'। ‘‘वसन्ति प्राणिनो यत्र" अर्थात् प्राणियों के वास-स्थान को 'वास्तु' कहा जाता है। इस दृष्टि से जो प्राणी जहाँ रहता है उसके लिए वही वास्तु है। जलचर जल में रहते हैं, उनके लिए जल ही वास्तु है। पक्षी अपने घोसले में रहते हैं, अत: उनके लिए घोसला ही उनका वास्तु है परन्तु अमरकोष में गृह के लिए नियत भूमि को 'वास्तु' कहा गया है।' शब्दार्थभानु', पद्मचन्द्रकोश, शब्दस्तोममहानिधि' और शब्दार्थ चिन्तामणि आदि कोश-ग्रन्थों में भी वास्तु शब्द का अर्थ 'वास-योग्य भूमि' अथवा 'गृह-करण-योग्य भूमि' गृहीत है। ऋग्वेद में वास्तु शब्द का प्रयोग 'भवन' अथवा गृह' के लिए हुआ है। इस प्रकार सामान्यतया निवास-योग्य भूमि की संज्ञा वास्तु है और वास्तु अर्थात् भवन से सम्बन्धित शास्त्र को 'वास्तुशास्त्र' कहा जाता है। भारतीय परम्परा में वास्तुशास्त्र अर्थात्

निर्माण अभियान्त्रिकी को ऋषियों अथवा मनीषियों के अद्वितीय ज्ञान-कोष से उद्भूत माना गया है।

वास्तु का अभिप्राय व्यापक है। आचार्य विश्वकर्मा ने जहाँ पर देव, मनुष्य तथा गज, गो और अश्वादि पशु निवास करते हैं, उसे 'वास्तु' कहा है।' इसी प्रकार मानसार और मयमत' आदि ग्रन्थों में भी देवों और मनुष्यों के निवासस्थल को 'वास्तु' कहा गया है। इसके अतिरिक्त भवन-निर्माण में प्रयोग होने वाली वस्तुओं तथा मानव जिन वस्तुओं का प्रयोग अपनी सुख-सुविधा के लिए करता है, उन्हें भी वास्तु की संज्ञा दी गई है। विश्वकर्मवास्तुशास्त्र के अनुसार इष्टिका, शिला, वृक्ष तथा कीलादि सभी वस्तुओं की वास्तु संज्ञा है। इसी प्रकार मानसार' और मयमत में वास्तुशास्त्र विषयक भूमि प्रासाद, यान तथा पर्यङ्क या शयन का श्रृङ्खलाबद्ध सङ्कीर्तन हुआ है। इन ग्रन्थों में उपर्युक्त वस्तुओं को वास्तु की संज्ञा देते हुए 'भूमि' को ही मुख्य वास्तु बताया गया है, क्योंकि इन वस्तुओं का निर्माण मूलत: जिन वस्तुओं से होता है उनका उत्पत्ति-स्थान 'भूमि' ही है। दूसरे शब्दों में इन सभी वस्तुओं का आधार 'धरा' है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वास्तु शब्द की उत्पत्ति 'वस्तु' से भी स्वीकार्य है। वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि वास्तु शब्द व्यापक अर्थ को समाहित किये हुए है। वास्तु मात्र गृह के अर्थ में ही नहीं, अपितु गृह से सम्बन्ध रखने वाले धार्मिक, व्यवसायिक तथा समस्त भवनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है। भारतीय परम्परा में गृहनिर्माण की यह परम्परा अत्यन्त सुनियोजित विधि से पाण्डुलिपियों में संरक्षित है, जिसके अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह समस्त ज्ञानधारा एकाएक नहीं अपितु कई पीड़ियों के अनुसन्धान व दैवीय शक्तियों से सम्पन्न आचार्यों के अथाह परिश्रम के फलस्वरूप वर्तमान काल में हमें प्राप्त हुई है। वास्तुशास्त्र के अध्ययन से भारतीय संस्कृति की वैज्ञानिक और समृद्ध परम्परा का ज्ञान होता है। आदिकाल से ही विश्व की सभी संस्कृतियों में स्व-स्व मान्यताओं के आधार पर अपनी मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु गृहनिर्माणादि की परम्परा थी। जिसमें देश-काल तथा परिस्थिति के आधार पर कालक्रमानुसार परिवर्तन भी होता रहा है। परन्तु इस परिवर्तन में वास्तुशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्त का पूर्णतः संरक्षण किया गया, जिससे आज भी हमें वास्तुशास्त्र का वही शुद्ध स्वरूप प्राप्त होता है । मनु महाराज के वचनानुसार – **“स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः”** भारतीय ज्ञान परम्परा में प्रत्येक भारतीय शास्त्र के उद्भव के मूल में ईश्वरीय ज्ञान वेद तत्त्व को स्वीकार किया गया है। वास्तुशास्त्र भी इसका अपवाद नहीं है।

1.2 वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक

वास्तुशास्त्र का मूल उद्गम ब्रह्मा जी से माना जाता है। ब्रह्मा जी को वास्तुशास्त्र के प्रवर्त्तक के रूप में माना जाता है। क्योंकि चतुर्विध अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्य के साथ-साथ अन्य उपवेदों एवं अष्टविध चिकित्सा (आयुर्वेद) सप्तविध धनुर्वेद तथा ज्योतिष शास्त्र का मूल ब्रह्मा जी को ही बताया गया है –

> चतुः प्रकारं स्थापत्यमष्टधा च चिकित्सिकम्।
> धनुर्वेदश्न्च सप्ताङ्गो ज्योतिषं कमलालयात्।।

पुराणों के अनुसार पृथु ने जब पृथ्वी को समतल किया और ब्रह्मा जी से पृथ्वी पर नगर- ग्राम आदि की रचना सम्बन्ध में निवेदन किया। यथोक्तम्-

ग्रामान् पुरः पत्तनानि दुर्गाणि विविधानि च।
घोषान् व्रजान् सशिविरानाकारान् खेटखर्वटान्॥

प्राक् पृथोरिह नैतेषां पुरग्रामादिकल्पना।
यथा सुखं वसन्ति स्म तत्र तत्राकुतो भयाः ॥

पृथु के इस निवेदन को सुनकर ब्रह्मा जी ने अपने चारों मुखों से विश्वकर्मा आदि की उत्पत्ति की, ब्रह्मा के पूर्व मुख को विश्वभू, दक्षिण मुख को विश्वविद्, पश्चिम मुख को विश्वस्रष्टा और उत्तर मुख को विश्वस्थ कहा जाता है। ब्रह्मा के विश्वभू नामक मुख से विश्वकर्मा की, विश्वविद् नामक दक्षिण मुख से मय की, विश्वस्रष्टा नामक पश्चिम मुख से मनु की तथा उत्तर दिशा में विश्वस्थ नामक मुख से त्वष्टा की उत्पत्ति हुई। इन चारों का सम्बन्ध वास्तुशास्त्र से माना जाता है। इनमें से भी विश्वकर्मा, मय और त्वष्टा का तो साक्षात् सम्बन्ध वास्तुशास्त्र से है। विश्वकर्मा और मय की परम्परा तो वास्तुशास्त्र में अत्यधिक पल्लवित और विकसित हुई। कालान्तर में वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित अनेकों ग्रन्थों की रचना की गई, जिनमें से कुछ आचार्यों ने विश्वकर्मा तथा कुछ आचार्यों ने मय की परम्परा का अनुसरण किया। इस शास्त्र के अध्येताओं और आचार्यों की एक अपनी विशिष्ट परम्परा थी। इसका शास्त्रीय और प्रायोगिक कलेवर द्विजों के ही परिश्रम का परिणाम था। वास्तुशास्त्र मर्मज्ञ सूत्रधार के गुणों की चर्चा करते हुए उसके द्विजत्व की भी चर्चा के गई है। कहा भी है -

"सुशीलश्चतुरो दक्षः शास्त्रज्ञो लोभवर्जितः ।
क्षमायुक्तो द्विजश्चैव सूत्रधार स उच्यते ॥"

शनैः शनैः यह विद्या द्विजेतरों के हस्तगत हो गई और इस विद्या के अध्येताओं के ज्ञान, प्रयोग और चारित्रिक ह्रास के कारण यह विद्या अपना गरिमामय स्थान खो बैठी। विश्वकर्मा के शाप से दग्ध इस विद्या के अध्येता-शिल्पि विश्वकर्मा के शापित पुत्र कहलाए, जो कि मालाकार, कर्मकार, शंखकार, कुविन्द, कुम्भकार, कांस्यकार, सूत्रधार, चित्रकार, स्वर्णकार थे। ये विश्वकर्मा के शूद्रपुत्रों के रूप में विख्यात हुए।

यथोक्तम् "ततोनवैतेशिल्पकारिणः।
'बभूवुः पुत्राश्च मालाकारकर्मकारशङ्खकारकुविन्दकाः ॥

कुम्भकारः कांस्यकार: स्वर्णकारस्तथैव च।
पतितास्ते ब्रह्मशापाद अयाज्या वर्णसङ्करा ॥"

इस प्रकार विश्वकर्मा के ये सभी पुत्र विविध कलाओं में पारंगत थे। कालान्तर में अध्ययन से विमुखता के कारण विश्वकर्मा के इन पुत्रों का प्रायोगिक दृष्टि से तो विकास हुआ परन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से ये शास्त्र के मर्म से अपरिचित होते गये। आज भी विविध कलाओं में निष्णात ये शिल्पी शास्त्रज्ञान से रहित दिखाई देते हैं। वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों का उल्लेख वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रन्थों और पुराणों में प्राप्त होता है। मत्स्यपुराण में भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, विश्वकर्मा, मय, नारद, नग्नजित, विशालाक्ष, पुरन्दर, ब्रह्मा, कुमार, नन्दीश, शौनक, गर्ग, वासुदेव, अनिरुद्ध, शुक्र तथा बृहस्पति इन अठारह आचार्यों का वर्णन प्रवर्तक आचार्यों के रूप

मे किया गया है। यथोक्तम् -

"भृगुरत्रिवशिष्ठश्च विश्वकर्मामयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ॥

ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रो बृहस्पतिः॥

अष्टादशैते विख्याता वास्तुशास्त्रोपदेशकाः।
संक्षेपेणोपदिष्टं यन्मनवे मत्स्यरूपिणः॥"

अग्निपुराण में वास्तुशास्त्र के उपदेशक आचार्यों की सङ्ख्या पच्चीस कही गई है। अग्निपुराण की इस सूची में हयशीर्ष (हवशीर्ष तन्त्र), गालव, त्रिलोकमोहन (त्रैलोक्यमोहन तन्त्र), नारद (नरदीय तन्त्र), विभव (विभव तन्त्र), सम्प्रश्न, पुष्कर (पौष्कर तन्त्र), शाण्डिल्य (शाण्डिल्य तन्त्र) प्रह्लाद। प्रह्लाद तन्त्र), विश्वक (वैश्वक तन्त्र), गर्ग (गार्ग्या तन्त्र), सत्य (सात्य तन्त्र), शुनक (शौनक तन्त्र) वशिष्ठ (वशिष्ठ तन्त्र), ज्ञानसार, स्वयम्भू (स्वायम्भुव तन्त्र), कपिल (कापिल तन्त्र), ताक्ष्र्य, नारायण (नारायणिका तन्त्र), अत्रि (आत्रेय तन्त्र), नरसिंह (नारसिंह तन्त्र), आनन्द, अरुण (आरुण तन्त्र), वास्तुशास्त्र का परिचय व स्वरूप बौधायान, ऋषि (आर्ष) आदि का उल्लेख प्राप्त होता है। तद्यथा -

"व्यस्तानि मुनिभिर्लोके पञ्चविंशति सङ्ख्यया।
हयशीर्षं तन्त्रमाद्य तन्त्र त्रैलोक्यमोहनम् ॥

वैभवं पौष्करं तन्त्रं प्रह्लादं गार्ग्यगालवम्।
नारदीयं च सम्प्रश्नं शाण्डिल्यं वैश्वकं तथा ॥

सत्योक्तं शौनकं तन्त्रं वशिष्ठं ज्ञानसागरम्।
स्वायम्भुवं कापिलं च ताक्ष्य नारायणीयकम् ॥

आत्रेयं नारसिंहाख्यमानन्दाख्यं तथारूणकम्।
बौधायनं तथार्षं तु विश्वोक्तं तस्य सारतः ॥"

वास्तुशास्त्र के एक अन्य मुख्य ग्रन्थ मानसार में वास्तुशास्त्र के उपदेशक आचार्यों की सङ्ख्या बत्तीस कही गई है। मानसार में विश्वकर्मा, विश्वेश, विश्वेसार, प्रबोधक, वृत्र, मय, त्वष्टा, मनु, नल, मानवित, मानकल्प, मानसार, प्रष्टा, मानबोध, विश्वबोध, मय, आदिसार, विशाल, विश्वकाश्यप, वासुबोध, महातन्त्र, वास्तुविद्यापति, पाराशरीयक, कालयूपचैत्य, चित्रक, आवर्य, साधकसार, भानु, इन्द्र, लोकज्ञ और सूर्य इन आचार्यों का उल्लेख किया गया है। यथा-

"विश्वकर्मा च विश्वेशः विश्वसारः प्रबोधकः।
वृत्तश्चैव मयश्चैव त्वष्टा चैव मनुर्नलः ॥

मानविन्मानकल्पश्च मानसारी बहुश्रुतः।
प्रष्टा च मानबोधश्च विश्वबोधो मयस्तथा ॥

आदिसारो विशालाक्ष्च विश्वकाश्यप एव च।
वास्तुबोधो महातन्त्रो वास्तुविद्यापतिस्तथा॥

पाराशरीयकश्चैव कालयूपो महाऋषिः।
चैत्याख्य: चित्रक: आवर्यः साधकसारसहितः॥

भानुश्चेन्द्रश्च लोकज्ञ: सौराख्य: शिल्पिवित्तमः।
ते एव ऋषय: प्रोक्ता द्वाविंशति सङ्ख्यया॥ "

आचार्य वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में गर्ग, मनु, वशिष्ठ, पाराशर, विश्वकर्मा, नम्नजित, मय आदि सात आचार्यो की चर्चा वास्तुशास्त्रज्ञ के रूप में की है। सनत्कुमार कृत वास्तुशास्त्र में ग्यारह वास्तुविदों का उल्लेख मिलता है। जिनके नाम क्रमशः ब्रह्मा, गौतम, भग, इन्द्र, गार्ग्य, अंगिरा, यम, मनु, विश्वकर्मा, भार्गव, तथा व्यास है। वास्तुकौस्तुभ ग्रन्थ में शौनक, राम, रावण, परशुराम, हरि, गालव, विश्वकर्मप्रकाश, मयशिल्पगौतम, शौभित, वैद्याचार्य, कार्तिकेय और च्यवन आदि आचार्यों का उल्लेख किया गया है। विश्वकर्माप्रकाश में पन्द्रह वास्तुविदों का उल्लेख मिलता है। जिनके नाम क्रमशः अगस्त्य, नन्दी, लोकदर्शक, कश्यप, पालकप्य, पुण्डरीक, नारद, कात्यायन, दीर्घदर्शी, बृहस्पति, मरीचि, पुनर्वस, तिम्यलोक, चित्रतोयक तथा योगसार है। इसी प्रकार से रामायणकाल में वास्तुविद् महाभारत काल में रूप में आचार्य नल और नील का वर्णन प्राप्त होता है। इन्होंने ही समुद्र पर सेतु का निर्माण किया था। लाक्षागृह का निर्माण करने वाले आचार्य पुरोचन प्रमुख वास्तुविद् थे।

1.3 वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों का परिचय

उपर्युक्त विवेचनो से स्पष्ट है कि वास्तुशास्त्रके प्रवर्तक आचार्यों की संख्या को लेकर विविध मत प्राप्त होते हैं, परन्तु इन सभी मतों में मत्स्यपुराण में प्रदत्त वास्तुशास्त्र के आचार्यों की संख्या ही सर्वसम्मत मानी गयी है। इन अठारह आचार्यों में से मनु (वैवस्वत) को प्रलयकाल में संक्षेप में मत्स्यरूपधारी भगवान् ने वास्तुशास्त्र का उपदेश दिया था। यहाँ इन वास्तुशास्त्रियों का ऐतिहासिक परिचय अति आवश्यक होने से द्रष्टव्य है, प्रवर्तक आचार्यों का परिचय निम्नानुसार है –

1. महर्षि भृगु

वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यो में आपका नाम सर्वोपरि है। आपके विषय में अनेक पौराणिक कथाएं प्राप्त होती हैं, जिनमें महर्षि भृगु को ब्रह्माजी का पुत्र माना गया है। एक कथा के अनुसार इनके पिता का नाम भृगु वारुणी था। इनका विवाह दैत्य कुल में हुआ। इनकी प्रथम पत्नी दिव्या (दैत्य हिरण्यकाश्यप की पुत्री) और द्वितीय पत्नी पौलामी (दानवाधिपति पुलोम ऋषि की पुत्री) थी। प्रथम पत्नी दिव्या से दो पुत्र काव्य-शुक्र, त्वष्टा विश्वकर्मा के नाम से विख्यात हुए। ये दोनों ही प्रकाण्ड विद्वान थे। इनमें से काव्य-शुक्र ज्योतिष, खगोल शास्त्र तथा याज्ञिक-कर्मकाण्ड आदि विषयों का प्रकाण्ड विद्वान था। मातृकुल में इन्हें आचार्य की उपाधि प्राप्त हुई, जो बाद में शुक्राचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए। द्वितीय पुत्र त्वष्टा विश्वकर्मा वास्तु एवं शिल्पशास्त्र में निपुण था तथा यह भी अपनी माता के कुल में ही मय नाम से प्रसिद्ध हुए। द्वितीयपत्नी से भी दो पुत्र प्राप्त हुए। जिनका नाम

च्यवन और ऋचीक था।

इसी विषय में एक और आख्यान प्राप्त होता है। देवीभागवत विष्णुपुराण, अग्निपुराण, श्रीमद्भागवत में प्राप्त वर्णन के अनुसार भृगु ऋषि प्रचेता ब्रह्मा के पुत्र थे और इनका विवाह प्रजापति की पुत्री ख्याति से हुआ। जिनसे उन्हें कालांतर में काव्य-शुक्र, त्वष्टा तथा एक पुत्रीश्री (लक्ष्मी) प्राप्त हुई। तदनंतर श्री लक्ष्मी का विवाह भगवान विष्णु के साथ हुआ। इस प्रकार से महर्षि भृगु के विषय में वर्णन प्राप्त होता है। वर्तमान काल में ज्योतिषशास्त्र से सम्बन्धित मनीषियों को इनके वंशानुक्रम का ज्ञान हो या ना हो किन्तु इनके द्वारा रचित भृगुसंहिता के विषय में ज्योतिषशास्त्र का प्रत्येक अध्येता परिचित है। महर्षि भृगु का ब्रह्मा के पुत्र होने के कारण ज्योतिष-वास्तु के ज्ञान में पारंगत होने पर तो किसी प्रकार का संशय नहीं किया जा सकता। इनके द्वारा रचित भृगु संहिता को ज्योतिष का मूल ग्रन्थ माना जाता है और ज्योतिषशास्त्र के अङ्गभूत होने के कारण आचार्य भृगु वास्तुशास्त्र के भी ज्ञाता थे। मत्स्यपुराण में इनकी गणना वास्तुशास्त्र प्रवर्तकाचार्यों में भी सर्वप्रथम की गई है।

2. आचार्य अत्रि

अत्रि ऋषि का वर्णन अनेक शास्त्रीय ग्रंथों में कई स्थानों पर प्राप्त होता है। इन्हें भगवान ब्रह्मा का मानस पुत्र माना जाता है। इनकी धर्मपत्नी सती अनसूया हैं। इनका पूरा नाम अत्रिवारुणि था, ये वरुणदेव के तृतीय पुत्र थे। इन्होंने ज्योतिषशास्त्र का भी प्रवर्तन किया था। पुराणों में आचार्य अत्रि को महर्षि की पदवी प्राप्त है और इनकी गणना सप्तऋषियों में होती है। माता अनुसूया से इन्हें तीन पुत्र हुए जो क्रमशः ब्रह्मा-विष्णु-महेश के अंशावतार ही माने जाते हैं। ब्रह्मा ने चंद्र के रूप में जन्म लिया, विष्णु दत्तात्रेय के रूप में अवतरित हुए और भगवान शिव ने दुर्वासा के रूप में जन्म लिया था। अत्रि ऋषि को ऋग्वेद में द्रष्टा ऋषि के रूप में भी स्वीकार किया जाता है तथा ऋग्वेद के पंचम मण्डल को इन्ही के नाम से (अत्रि मण्डल) कहा जाता है। महर्षि अत्रि के अनेक पुत्रवत् शिष्यों का वर्णन प्राप्त होता है जिन्होंने वैदिक ग्रंथों के संकलन में सहयोग प्रदान किया। न केवल ऋग्वेद अपितु आदिकाव्य रामायण तथा महाभारत में भी अत्रि ऋषि के विषय में पर्याप्त सामग्री प्राप्त होती है। रामायण में भगवान राम, लक्ष्मण और सीता के साथ महर्षि अत्रि के आश्रम में जाने और उनके साथ पास बैठ कर धर्म सम्बन्धी विविध चर्चाओं का वर्णन प्राप्त होता है। इनके द्वारा वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित किस ग्रन्थ की रचना की गई, यह तो उपलब्ध नहीं होता परन्तु वास्तुशास्त्र के आद्याचार्यों में इनका स्पष्ट उल्लेख इस बात को पुष्ट करता है कि महर्षि अत्रि वास्तुशास्त्र के एक प्रमाणिक विद्वान थे। इनके द्वारा रचित वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थ संस्कृतवाङ्मय के अन्य ग्रन्थों की ही तरह लुप्त हो चुके हैं।

3. आचार्य वशिष्ठ

ये पराशर के पिता शक्तिवसिष्ठ थे। इन शक्तिवसिष्ठ के सम्बन्ध सुदास ऐक्ष्वाक से मधुर थे, परन्तु उनके पुत्र कल्माषपाद से बिगड़ गये थे। ये बाईसवें व्यास थे। जब इनका संघर्ष कल्माषपाद से हुआ तो उसने इन्हें जला दिया था। "ऋतेज्ञानान्नमुक्तिः" ज्ञान के साक्षात्कार के बिना मोक्ष की प्राप्ति असंभव है। भारतवर्ष में आदिकाल से ही इस ज्ञान परंपरा का अनुसरण ऋषियों, महर्षियों, तपस्वियों, आचार्यों के द्वारा किया गया है। मत्स्य पुराण में वर्णित वास्तुशास्त्र के 18 आचार्यों में तीसरे आचार्य के रूप में आचार्य वशिष्ठ

का उल्लेख प्राप्त होता है। आचार्य वशिष्ठ की उत्पत्ति के विषय में दो मत प्राप्त होते हैं। एक मत के अनुसार वशिष्ठ को ब्रह्मा का मानस पुत्र माना जाता है और द्वितीय मत के अनुसार इनकी उत्पत्ति कुम्भ से मानी जाती है। महर्षि वशिष्ठ की गणना भी सप्तऋषियों में की जाती है। महर्षि वशिष्ठ ने जिन ग्रन्थों कीरचना की, उनमें से एक प्रमुख ग्रन्थ वशिष्ठ संहिता है। यह ग्रन्थ 45अध्यायों में विभक्त किया गया है। जैसे -

पञ्चोत्तरचत्वारिंशद्विपुलाध्यायैर्विराजते स्कन्धः ।
अज्ञाज्ञानोपशमनमितरेषां बुद्धिवर्धनं नित्यम् ।

वशिष्ठ संहिता में 2743 श्लोक हैं। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ ज्योतिष के विषय पर आधारित है एवं इसमें वास्तुशास्त्र के विषय को भी प्रतिपादित किया गया है। इस संहिता में एक अध्याय का नाम वास्त्वध्याय है जिसमें वास्तु से सम्बन्धित विषय का वर्णन पूर्ण रूप से प्राप्त होता है। इस अध्याय में सम्बन्धित 222 श्लोक प्राप्त होते हैं जिनमें वास्तु के प्रत्येक मुख्य विषय को वास्तुशास्त्र से प्रतिपादित किया गया है। तद्यथा –

वास्तुज्ञानं प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ब्रह्मणा पुरा।
ग्रामसप्तपुरादीनां निर्माण सूक्ष्मतोऽधुना॥

इस प्रकार वास्तु के विषय को प्रतिपादित करते हुए भूमिचयन, दिशाज्ञान, वास्तुपदमण्डल, गृहारम्भमुहूर्त, आय-पिण्ड साधन इत्यादि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। अन्त में वास्तुशान्ति और पूजन की विधि का भी विस्तारपूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। आचार्यवशिष्ट के मतानुसार स्वस्तिवाचन और वास्तुशान्ति के पश्चात ही नवनिर्मित गृह में प्रवेश करना चाहिए। वास्तुपूजन के बिना गृहप्रवेश करने से रोगों तथा क्लेशों का सामना करना पड़ता है। यथोक्तम् –

वास्तुपूजामकृत्वा यः प्रविशेन्नवमन्दिरे।
रोगान्नानाविधान्क्लेशानश्नुते सर्वसंकटान्॥

इस प्रकार इन्हें ज्योतिष शास्त्र एवं वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकों में स्थान प्राप्त है।

4. आचार्य विश्वकर्मा

भारतीय संस्कृति में विश्वकर्मा को निर्माण का देवता माना गया है। वेदों में स्पष्ट रूप से विश्वकर्मा का वर्णन प्राप्त होता है। ऋग्वेद में विश्वकर्मा से सम्बन्धित सूक्त प्राप्त होता है, जिसमें 11 ऋचाएं हैं, जिसमें विश्वकर्मा को विश्वकर्माभावनऋषि: की संज्ञा दी गई है। न केवल ऋग्वेद अपितु यजुर्वेद में भी 16 मंत्रों में विश्वकर्मा का वर्णन किया गया है –

"ॐ विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात......" इस प्रकार वेदों में भी विश्वकर्मा की सर्वव्यापकता, सर्वज्ञता, सर्वसम्पन्नता को दर्शाया गया है। मानाजाता है कि एक ही समान गुण-धर्मों से युक्त अनेक ऋषि हुए और कालांतर में गुणों की दृष्टि से समानता होने के कारण उन्हें विश्वकर्मा की उपाधि प्रदान की गई। प्राचीन ग्रन्थों, उपनिषदों, पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि आदिकाल से ही विश्वकर्मा शिल्पी अपने निर्माण सम्बन्धी अतिवशिष्ट ज्ञान के कारण मानवों में ही नहीं अपितु देवताओं में भी पूज्य हैं। वैदिक ऋचाओं में, पुराणों में, काव्यों में नगर, पुर, प्रासाद, ग्राम, खेट, शस्त्र,

विमान इत्यादि सभी प्रकार के निर्माण भगवान विश्वकर्मा के द्वारा ही किये जाते हैं। विश्वकर्मापुराण में तो यहाँ तक वर्णन प्राप्त होता है कि स्वयं ब्रह्मा-विष्णु-महेश को बनाने वाले भी भगवान विश्वकर्मा ही हैं। इस प्रकार से विश्वकर्मा को निर्माण के देवता के रूप में यदि स्वीकार किया जाए तो इसमें अतिशयोक्ति नहीं है। विश्वकर्मा द्वारा रचित विश्वकर्मावास्तुशास्त्रम् एक प्रमुख ग्रन्थ है। विश्वकर्मावास्तुशास्त्र ग्रन्थ के रचियता विश्वकर्मा को माना गया है। यह वास्तुशास्त्र पर रचित स्वतंत्र ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रमाण इतिहास ग्रंथों में भी प्राप्त होते हैं और इसका लेखनकाल सोलहवीं शताब्दी में माना जाता है। इस ग्रन्थ में वास्तुविषयक सभी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विधियों, नियमों तथा उनके मानकों को प्रस्तुत गया कियाहै। इस ग्रन्थ में 87 अध्याय हैं और अधिकांश श्लोक अनुष्टुप छन्द में हैं। इस ग्रन्थ में भगवान शङ्कर का स्तुतिपरक मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है। इसके आरम्भ में ही शिल्पशास्त्र के ज्ञान को अनिवार्य बताते हुए शिल्पशास्त्र के ज्ञान के बिना संसार में वास को ही दुष्करमाना गया है। यथोक्तम् -

शिल्पं विना नहि जगत्रिषु लोकेषु विद्यते।
जगद्विना न शिल्पञ्च वर्तते वासव प्रभो ॥

शिल्पशास्त्र की महत्ता को बताते हुए वास्तुशास्त्र के विभिन्न विषयों को विश्वकर्मा ने ग्रन्थ में प्रस्तुत किया हैं। ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में आचार्य विश्वकर्मा का नामोल्लेख प्राप्त होता है। मानसार नामक ग्रन्थ में विश्वकर्मा का वर्णन ब्रह्माण्ड के कर्ता के रूप में हुआ है। वाल्मीकि रामायण के सुन्दरकाण्ड में भी विश्वकर्मा का उल्लेख स्पष्टतया प्राप्त होता है। समराङ्गणसूत्रधार और अपराजितपृच्छा के अनुसार विश्वकर्मा को प्रभास वसु का पुत्र बताया है। वाल्मीकि रामायणमें वर्णित विमान का निर्माण भी भगवान विश्वकर्मा ने स्वयं ब्रह्मा जी के लिए किया था। महाभारत में वर्णित सभागार का निर्माण भी स्वयं विश्वकर्मा के द्वारा निर्मित था।

5. आचार्य मय

आचार्य मय के पिता का नाम कश्यप था और इनकी माता दिति थीं। कश्यप और दिति के पुत्र, नमुचि का भाई मय एक प्रसिद्ध दानव था। ये ज्योतिष और शिल्पशास्त्र के मर्मज्ञ थे ज्योतिष से अधिक वास्तुशिल्प के क्षेत्र में इन्हें ख्याति प्राप्त हुई। आदिकाल से ही इन्हें दानवों के विश्वकर्मा के रूप में जाना जाता है। पुराणों से लेकर आदिकाव्य रामायण तथा महाभारत में भी इनके द्वारा निर्मित भवन सभागार इत्यादि का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता हैं। इनकी दो पत्नियां थी हेमा और रम्भा, जिनसे उन्हें पाँच पुत्र और तीन कन्याएं प्राप्त हुई। रामायण के अनुसार मय को दशानन रावणका ससुर भी माना जाता है क्योंकि मन्दोदरी मयासुर की ही कन्या थीं।

महाभारत में मयसभा का वर्णन प्राप्त होता है जिसे स्वयं मयासुर ने क्षमाप्रार्थी होकर युधिष्ठिर के लिये बनाया था। वस्तुतः खाण्डववन में अग्नि संकट के समय भगवान श्रीकृष्ण ने चक्र से मयासुर का वध करना चाहा किन्तु अर्जुन ने उसे बचा लिया अतः बदले में मयासुर ने एक अद्भुत सभागार का निर्माण किया जिसे बाद में मयसभा के नाम से प्रसिद्धि मिली। शिवपुराण के अनुसार मयासुर बहुत ही भक्तिभाव वाला दानव था। उसका जन्म तो राक्षस कुल में हुआ, परन्तु वह धर्म के मर्म का ज्ञान रखता था और सदैव

असुरभाव से दूर रहता था। भगवान शङ्कर ने प्रसन्न होकर इनको विततलोक का राज्य प्रदान किया। इन्होंने वास्तुशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ मयमतम् की रचना की। मयासुर द्वारा रचित मयमतम् नामक ग्रन्थ अद्भुत कृति है। इसके अतिरिक्त मय के अन्य ग्रन्थ भी हैं जिनमें से मयवास्तु तथा मयशिल्पशास्त्र तेलगु प्राप्त होता हैं।

6. आचार्य नारद

आचार्य नारद का नाम भगवान ब्रह्मा के छः मानस पुत्रों में सबसे छोटे पुत्र के रूप में प्राप्त होता है। इन्होंने कठिन तपस्या के मध्यम से ब्रह्मऋषि का पद प्राप्त किया था। यह भगवान विष्णु के अनन्य भक्त माने जाते हैं और निरन्तर नारायण नाम सुमिरण में लगे रहते हैं। यह धर्म के प्रचार तथा लोककल्याण की दृष्टि से सदा प्रयत्नशील रहते हैं। शास्त्रों में इन्हें भगवान का मन माना गया है। सम्भवतः इसी कारण से सर्वत्र समस्त लोकों में इनकी गति मानी जाती हैं। इनकी इसी महानता के इन्हें गीता के २६वें अध्याय में भगवान ने स्वयं को नारद के रूप में ही बताया है। अथर्ववेद से लेकर ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, पुराणों तथा आदिकाव्य में भी इनका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इनके नाम की व्युत्पत्ति करते हुए कहा गया है कि नारं ददातीति नारद: नार अर्थात् परमात्मविषयकं ज्ञानं ददातीति "सदा ज्ञान को प्रदान करने वाला वास्तुशास्त्र के प्रमुख 18 आचार्यों में नारदमुनि का नाम छठे स्थान पर प्राप्त होता है। इनके दो मुख्य ग्रन्थ प्राप्त होते है –

1. नारद संहिता

2. नारदीय संहिता

जिनमें वास्तु के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती हैं, जिसके आधार पर यह निश्चित माना जा सकता है कि महर्षि नारद भी वास्तुशास्त्र के मुख्य आचार्यों में से एक हैं, इनके यह दोनों ग्रन्थ वर्तमान में सुलभता से प्राप्त है।

7. आचार्य नग्नजित्

इतिहास एवं पुराणों में ये गन्धारनरेश कहे जाते हैं। ये महाभारत युद्ध के दो सहस्राब्दी पूर्व अथवा ईस्वी सन् के पाँच सहस्राब्दी पूर्व विद्यमान् थे। ये आयुर्वेद के उपदेष्टा चरक एवं भेल के गुरु पुनर्वसु आत्रेय के समय में ये हुए थे। आचार्य नग्नजित् के विषय में बहुत सी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। चित्रलक्षणनामक ग्रन्थ में प्राप्त कथाअनुसारनग्नजित् को आदि चित्रकार व चित्रविद्या का प्रवर्तक माना गयाहै। प्राचीन काल में पृथ्वी पर एक भयजित नाम के राजा रहते थे। वह बहुत ही यशस्वी और धर्मात्मा थे । अपनी तपश्चर्या से वह बहुत शक्तिशाली हो गए। उनकी प्रजा निर्भय होकर रहती थी। एक बार से प्रजा में एक ब्राह्मण बालक की अकाल मृत्यु के कारण उन्होंने यम से युद्ध किया। जब यम को हार का अनुभव हुआ, तभी वहाँ ब्रह्मा जी पधारे और राजा को बालक का चित्र बनाने को कहा और उसमें प्राण डाल दिए। इस प्रकार वह बालक पुनः जीवित हो गया। तब ब्रह्मा जी ने राजा भवजित को वरदान दिया कि तुमने नग्न प्रेतों को भी जीत लिया, इसलिये तुम्हारा नाम आज से नग्नजित है, तुम्हारे द्वारा चित्रित यह प्रथम चित्र है। इस विद्या के द्वारा संसार का बड़ा कल्याण होगा और तुम संसार में सदा पूजनीय होगें।

शतपथ ब्राह्मण में भी एक गान्धार-राजा का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत में भी कई

स्थानों पर नग्नजित् नाम का उल्लेख मिलता है तथा जैन सूत्रों में भी गांधार-राजा नम्नजित् का उल्लेख मिलता है। वर्तमान में एक चित्रलक्षण नामक ग्रन्थ भी प्राप्त होता है, जिसके मात्र तीन ही अध्याय प्राप्त होते हैं। सम्भव है कि इस ग्रन्थ में इससे अधिक भी अध्याय हो किन्तु अभी तक प्राप्त नहीं हुए हैं। चित्र है लक्षण में प्राप्त प्रमाण के अनुसार तो नग्नजित विश्वकर्मा के ही शिष्य हैं जिन्होंने ब्रह्मा जी के आदेश पर विश्वकर्मा से चित्रविद्या का ज्ञान प्राप्त किया।

चित्र-लक्षण की मूल प्रति में नग्नजिच्चित्रलक्षणनिर्देश इस प्रकार से ग्रन्थ का आरम्भ किया गया है अतः यह माना जा सकता है कि चित्रलक्षण नम्नजित् का ही है:, जिसका वर्णन वास्तुशास्त्र के अष्टादश आचार्यों में किया गया है क्योंकि चित्र और मूर्ति निर्माण को वास्तुशिल्प का ही अंग माना जाता है। इसीलिये इनके नाम को भी मुख्य आचार्य के रूप में ग्रहण किया गया है। चित्रलक्षण के तीन अध्याय ही वर्तमान में प्राप्त होते हैं। विद्वानों का मत है कि इसका कुछ ही अंश वर्तमान में प्राप्य है। इसके रचनाकाल के विषय में भी संदेह है किन्तु तथापि यह माना जाता है कि छठीं शताब्दी से पूर्व इसकी प्रसिद्धि हो चुकी थी क्योंकि वराहमिहिर की बृहद्संहिता में दो स्थानों में इसका उल्लेख मिलता है। चित्रलक्षण में तीन अध्याय हैं। इसके मंगलाचरण में कहा गया है कि इस ग्रन्थ में विश्वकर्मा -प्रह्लाद-नम्नजित् इन तीनों के द्वारा निर्दिष्ट सिद्धान्तों को इसमें संगृहीत किया गया है। तद्यथा –

विश्वकृन्नम्नजिद्देवप्रह्लादसारमुज्ज्वलम् ।
लक्षणमनुसृत्यैच विदुषां सुधियां पुनः॥

इस ग्रन्थ के अनुसार ब्राह्मण पुत्र का चित्र बनाने के बाद नग्नजित् ने ब्रह्मा जी से प्रश्न किए और उनकी जिज्ञासा को देखते हुए भगवान ब्रह्मा ने उन्हें विश्वकर्मा जी के पास भेजा तथा विश्वकर्मा जी के द्वारा नग्नजित् को चित्र विद्या का ज्ञान प्राप्त हुआ। अतः नम्नजित् विश्वर्मा के ही शिष्य हैं।

तद्यथा –

नग्नजिद् गच्छ तस्मात् त्वं विश्वकर्म समीपतः।
लक्षणविधिमानं च तुभ्यं स उपदेश्यति॥

चित्रविद्या की उत्पत्ति के विषय में भगवान विश्वकर्मा जी नम्नजित् को ज्ञान दिया गया है तथा किस प्रकार ब्रह्मा जी के द्वारा सृष्टि का आरम्भ हुआ। शनैः शनैः सभी देवी-देवताओं की उत्पत्ति हुई और उनके पूजन के लिये उनकी प्रतिमा भी प्रकट हुई। सभी देवता अपने चित्रों को देख कर और ब्रह्मा जी ने कहा कि इन्हीं मूर्तियों को यथा विधि प्रसन्न हुए पूजन-आहार आदि प्रदान कर सांसारिक जन कृतार्थ होंगे। तद्यथा -

लोकपूजाव्यवस्थायै प्रतिमानां यथायथम्।
नामादिकीर्तनं कार्य स्तवपूजादिकं तथा॥

प्रतिमां यां प्रतिदिनं पुण्यात्मा पूजयिष्यति।
तयैव दीयते शान्तिस्तस्मै भक्ताय सर्वतः ॥

इसमें चित्र निर्माण के समय ध्यान रखने योग्य सभी नियमों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसमें शरीर के विभिन्न अंगों का चित्र की दृष्टि से विवेचन किया गया है तथा विशेष रूप से पाँच प्रकार की आँखों का वर्णन किया गया है।

8. आचार्य विशालाक्ष

यह नाम भगवान् शिव से सम्बंधित है, आचार्य विशालाक्ष के विषय में तथा उनके द्वारा रचित ग्रन्थों के विषय में अभी तक कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है। सम्भव है कि संस्कृत के अनेकों आचार्यों की तरह इन्होंने अपने द्वारा रचित ग्रन्थों में अपना नामोल्लेख नहीं किया हो। परन्तु 18 प्रवर्तक आचार्यों में इनकी गणना इनके वास्तुशास्त्रीय ज्ञान के प्रमाण की परिचायक है।

9. आचार्य पुरन्दर

ये सप्तम युगीन व्यास थे, इनके पिता प्रजापति कश्यप थे। यह सब देवों में कनिष्ठ थे। इनका जन्मकालीन नाम शक्र था। ये वैवस्वत यम के शिष्य थे, उनसे इन्होंने इतिहास-पुराण का अध्ययन किया था। इन्होंने नों से अलग-अलग विद्याएँ सीखी थीं। ये आयुर्वेद, ज्योतिष, व्याकरण, आदि अनेक विषयों के विद्वान् थे।आचार्य पुरन्दर के विषय में भी कोई प्रामाणिक ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। पुरन्दर नाम का एक दुर्ग है, जो वर्तमान में महाराष्ट्र में स्थित है। जिस प्रकार से मय द्वारा रचित सभा का नाम मयसभा था, उसी प्रकार इस दुर्ग का सम्बन्ध भी आचार्य पुरन्दर से होने की सम्भावना की जाती है। यह दुर्ग महान मराठा राजा छत्रपति शिवाजी द्वारा कृत पुरन्दर की संधि केव्यक्तनाम से भी प्रसिद्ध है, यहीं शिवाजी महाराज के पुत्र संभाजी का जन्म हुआ था। यह किला यादव वंश के शासन में बनवाया गया था। यह माना जाता है कि पुरन्दर भगवान परशुराम की ही एक नाम है।

10. आचार्य ब्रह्मा

भारतीय धर्मशास्त्र के अनुसार ब्रह्मा के विषय में बहुत सी कथाएं प्रचलित हैं। आदिकाल से ही ब्रह्मा का स्थान सर्वोपरि माना गया है। वस्तुतः भारतीय परम्परा में तीन मुख्य देवता हैं। उनमें से ही एक ब्रह्मा भी हैं। ब्रह्मा को स्वयम्भू भी कहा जाता है जिसका अर्थ है स्वयं उत्पन्न होने वाला। पुराणों के अनुसार ब्रह्मा जी के चार मुख हैं जो चारों दिशाओं में हैं। इन्हें चारों वेदों के निर्माता भी कहा जाता है। वास्तुशास्त्र के प्रत्येक ग्रन्थ में ब्रह्मा की चर्चा प्राप्त होती है, जिन्हें वास्तुस्थापत्य के आदिगुरु के रूप में स्वीकार किया गया है। भृगु-अत्रि-वशिष्ठ-विश्वकर्मा-नारद-गर्ग इत्यादि सभी ऋषिगणो को ब्रह्मा के मानस पुत्र माना जाता है। वास्तुशास्त्र में ब्रह्मा को प्रमुख देवता मानते हुए वास्तुपदविन्यास में मध्य में भगवान ब्रह्मा को ही स्थान दिया गया है। इनका कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ प्राप्त नहीं होता परञ्च 18 प्रवर्तकों में इनकी गणना होती है।

11. आचार्य कुमार

आचार्य कुमार द्राविड परम्परा के आचार्य हैं। इनका जन्म केरल के ब्राह्मण परिवार में हुआ। यह देवनारायण की राज्यसभा में रहते थे। देवनारायण स्वभाव से धार्मिक और विद्वानों का आदर करने वाला राजा था। इनके आश्रय में अन्य भी कई विद्वान रहते थे।

आचार्य कुमार द्वारा वास्तुशास्त्र का द्राविडशैली का एक अंतिम प्रतिनिधित्व ग्रन्थ शिल्परत्न है, जिसके संपादक महा. टी. गणपति शास्त्री जी ने श्री कुमार को 16वीं शताब्दी का माना है। शिल्परत्न आचार्य कुमार द्वारा रचित एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ है। शिल्पशास्त्र के अधेयताओं का मानना है कि मयमतम्-मानसार-शिल्परत्न यह तीनों ग्रन्थ एक ही परंपरा के पोषक हैं अर्थात् ये तीनों ही मय के सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने वाले ग्रन्थ हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में ही ग्रंथकार ने सभी आचार्यों को नमन किया है। तत्पश्चात आचार्य मय के प्रति अपना विशेष आभार व्यक्त किया है। तद्यथा

त्रिपुरनयरचना यत्करयोः कर्मचातुरी जाता।
शिल्पवरं तं दनुजैरर्चितचरणं मयं वन्दे ॥

शिल्परत्न का मुख्य स्रोत आगम को ही माना गया है। इस ग्रन्थ में एक और विभिन्न स्थली, मंदिरों, देवताओं की मूर्ति आदि का उत्कृष्ट वर्णन है, वहीं स्थापत्यकला में शिल्प को एक विशिष्ट स्थान देने का प्रयास भी किया है। तद्यथा -

ब्राह्मं क्षात्रं च तेजोऽप्यहमहमिकया वर्णिते यत्र वीरे ।
तस्य श्रीदेवनारायणधरणिपतेराज्ञयाज्ञाकरोऽहम्।

मन्दोऽप्यत्यन्तमोहादितिविपुलतरेभ्योथ पूर्वागमेभ्य: ।
संक्षिप्तं शिल्परत्नं प्रलिखितुमधुना प्रक्रमे तत्प्रमेण ॥

12. आचार्य नन्दीश

वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकों में परिगणित आचार्य नन्दीश के विषय में मिलता है कि ये शिवजी के प्रमुख शिष्य एवं सेवक थे, इन्होंने अनेक प्रकार के तन्त्रों तथा विद्याओं का अध्ययन भगवान् शंकर (विशालाक्ष) से ही किया था। पर्वतीय स्थानों के भवन निर्माण की विद्या में इन्हें विशेष दक्षता प्राप्त थी। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के विषय में भी अभी तक कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं होती है।

13. आचार्य शौनक

शौनक ऋषि को वैदिक ऋषि भी माना जाता है। वस्तुतः शौनक ऋषि वैदिक संस्कृत व्याकरण के प्रकाण्ड विद्वान तथा ऋक्प्रातिशाख्य के रचयिता ऋषि माने गए हैं। प्रातिशाख्य शिक्षा के सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनमें संस्कृत व्याकरण के विषय में पूर्ण वैदिक ज्ञान संगृहीत है। इन्हें ऋषि कात्यायन और आश्वलायन का गुरु माना जाता है। इन्होंने ऋग्वेद की बाष्कल और शाकल शाखाओं का एकीकरण किया। विष्णुपुराण के अनुसार शौनक को ऋषि गृत्समद् का पुत्र माना जाता है। शौनक ऋषि का सम्बन्ध ऋग्वेद से है तथा वास्तुशास्त्र का वर्णन ऋग्वेद के मन्त्रों में स्पष्ट रूप से प्राप्त होता है तो यह कहना निरर्थक नहीं है कि ऋषि शौनक वास्तुविद्या के भी आचार्य है। तद्यथा -

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गव्स्फ़ानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ॥
वास्तोष्पते शग्मथा संसदा ते साक्षीमदि गातपत्या एवया।
पाहि क्षेत्र उत योगे परं नो ययं घात स्वस्तिभिः सदा नः मदे।

चारों वेदों की अपनी-अपनी शाखाएं और संहितायें भी प्रचलित हैं यथा ऋग्वेद की शाकलसंहिता, यजुर्वेद की वाजसनेयीसंहिता, सामवेद की कौथुमीय संहिता, अथर्ववेद की शौनक संहिता। आचार्य शौनक के नाम पर ही शौनक संहिता का नामकरण किया गया है। इसमें 730 स्तोत्रों का संग्रह है, जिसमें 5987 मन्त्र हैं और इसको 20 काण्डों में विभक्त किया हुआ है।

14. आचार्य गर्ग

गर्ग नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। आज से पाँच सहस्राब्दियों पूर्व विद्यमान थे। ये यदुवंश के पुरोहित थे। इनके शिष्यगण एशिया तथा यूरोप के अनेक भागों में थे। रूस का गार्ग्य प्रदेश ही आजकल जार्जिया कहलाता है। श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में इनके सम्बन्ध में लिखा है -

"गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां तु महातपाः।
ज्योतिषामयनं साक्षाद् यत्तद् ज्ञानमतीन्द्रियम्।

'आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र आदि विभिन्न विद्याओं के कहना सही नहीं है क्योंकि इनके काल में भेद माना गया है। गर्ग आचार्य गर्ग एक ही व्यक्ति है- ऐसा ऋषि को ब्रह्मा जी का मानस पुत्र माना गया है। गर्ग संहिता की दो प्रतिलिपियां प्राप्त होती हैं, जिसमें से एक में भगवान कृष्ण की मधुरलीला तथा द्वितीय गर्गसंहिता ज्योतिष का ग्रन्थ है। ज्योतिष तथा वास्तु में अङ्गाङ्गिभाव माना जाता है। इसी कारण आचार्य गर्ग को वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों में स्थान प्राप्त है।

15. आचार्य वासुदेव

वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकों में परिगणित आचार्य वासुदेव श्रीकृष्ण वासुदेव थे, जिन्हें भगवान् श्रीकृष्ण के नाम से हम सब जानते हैं। ये वसुदेव के पुत्र होने से वासुदेव कहे जाते थे। इन्होंने सान्दीपनि गुरु के आश्रम में सम्पूर्ण विद्याओं का अध्ययन किया था। वास्तुशास्त्र के विशेष रहस्यों को इन्होंने विश्वकर्मा (त्वष्टा) के पुत्र मय से जान लिया था। इस बात का उल्लेख 'विश्वकर्मप्रकाश' में मिलता है। इन्होने इसी विद्या के आधार पर समुद्र में शत्रुओ से सुरक्षित द्वारकापुरी का निर्माण करवाया था। जो कि इनकी राजधानी थी ये आज से 5200 वर्ष पूर्व विद्यमान थे। इनके द्वारा रचित इस विद्या के ग्रन्थों के विषय में कोई भी प्रमाणिक चर्चा प्राप्त नहीं होती है।

16. आचार्य अनिरुद्ध

ये वासुदेव कृष्ण के पौत्र तथा प्रद्युम्न के पुत्र थे, इनका गान्धर्व विवाह वाणासुर की पुत्री उषा के साथ हुआ था, ये महाभारत के युद्ध के कुछ काल उपरान्त तक विद्यमान रहे थे। दुनिया का कोई भी योद्धा कितना ही बलशाली क्यों न हो इनको अपने हाथों से पकड़ नही सकता था, न ही उन्हें कैद किया जा सकता था, इसीलिए इनका नाम अनिरुद्ध पड़ा था। आचार्य अनिरूद्ध की गणना भी वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकों में की गई है, परन्तु दुर्भाग्य से इनके द्वारा रचित ग्रन्थों के विषय में कुछ विशिष्ट जानकारी आज तक प्राप्त नहीं हो पायी है।

17. आचार्य शुक्र

इनका नाम उशना भार्गव तथा काव्य भी था, इनका जन्म हिरण्यकश्यपु के काल में हुआ था, वायुपुराण के अनुसार ये कई शताब्दियों तक जीवित रहे थे, भृगुवंशियो का इनको शासक भी नियुक्त किया गया था –

भृगूणामधिपञ्चैव काव्यं राज्येऽभ्यषेचयत् ।

इनके ही पुत्र त्वष्ट्रा या विश्वकर्मा, वरुत्री, शण्ड तथा मर्क थे, आचार्य शुक्र को दैत्यों का पुरोहित माना जाता है। क्योंकि ये हिरण्यकश्यप से लेकर वृत्रासुर तक दैत्य राजाओं के पुरोहित थे, आचार्य शुक्र को काव्य या उशना से भी सम्बोधित किया गया है, इनके महत्व को दर्शाते हुए भगवान् योगेश्वर कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है – **कवीनां उशना कवि:** । सम्भवतः यह शुक्र वही शुक्राचार्य ही होंगे। शुक्राचार्य भृगु ऋषि तथा हिरण्यकश्यप की पुत्री दिव्या के पुत्र मानें जाते हैं। पुराणों में ये दैत्यों के पुरोहित माने गये हैं। इनके विषय में वर्णन प्राप्त होता है कि आरम्भ में इन्होंने अंगिरस ऋषि का शिष्यत्व ग्रहण किया। तत्पश्चात भगवान शङ्कर को अपना गुरु मानकर उनसे मृतसंजीविनी का वर प्राप्त किया। इनके द्वारा रचित प्रसिद्ध ग्रन्थ शुक्रनीति है।

शुक्राचार्य अनेक विद्याओं एवं ज्ञान विज्ञान में पारंगत थे । ऋग्वेद के कुछ मन्त्र इनके द्वारा दृष्ट हैं, उशना या आचार्य शुक्र आयुर्वेद के भी कर्ता थे। सुश्रुत संहिता एवं अष्टांग हृदय में इनके द्वारा प्रतिपादित विषनाशक औषधीय प्रयोग भी प्राप्त होते हैं।

18. आचार्य बृहस्पति

इनको अंगिरस भी कहते हैं, इन्होने वेदाध्ययन ब्रह्मकश्यप से तथा पुराणों का अध्ययन शुक्राचार्य से किया था, परन्तु शुक्राचार्य की तामसी प्रवृत्ति के कारण इनका मतभेद हो गया था, विवस्वान तथा इन्द्र इन्ही के शिष्य थे, राजा उपरिचरवसु भी इनका ही शिष्य एवं यजमान था, इनको चौथे वेद व्यास की संज्ञा भी प्राप्त है। आचार्य बृहस्पति का उल्लेख विभिन्न जगह प्राप्त होता है। वेदोत्तर साहित्य में बृहस्पति को देवताओं का पुरोहित माना गया है। इनका जन्म अंगिरा ऋषि की सुरुपा नाम की पत्नी से हुआ। इनकी दो पत्नियाँ थीं तारा और शुभा। देवगुरु बृहस्पति स्वर्ण का मुकुट तथा कण्ठ में सुन्दर माला धारण किए हुए हैं।

पीतवस्त्र धारण कर कमल आसन पर विराजमान हैं। यह स्वर्णनिर्मित भवन में रहते हैं और इनका रथ भी सोने का है, जिसमें पीतवर्ण के आठ घोड़े जुते हैं। महर्षि बृहस्पति द्वारा रचित बार्हस्पत्यसूत्रम् ग्रन्थ सूत्रों के माध्यम से महर्षि बृहस्पति द्वारा नीतिशास्त्र-कलाशाख-राज-धर्म-नित्योपासनविधि-आवास मुहूर्त इत्यादि के विषय में सूत्र शैली में ज्ञान प्रदान किया गया है। इस ग्रन्थ के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में वास्तुशास्त्र से संबन्धित सूत्रों का वर्णन प्राप्त होता।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इन अठारह प्रवर्तक आचार्यो ने वास्तुशास्त्र के संवर्धन और संरक्षण में प्रत्यक्ष योगदान देकर शास्त्र को लोगों तक पहुंचाया।

अभ्यास प्रश्न – 1

निम्नलिखित में से सही विकल्प का चुनाव कीजिये

1. अग्निपुराण के अनुसार वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यो की संख्या है –

   अ. 18

   ब. 32

   स. 19

   द. 23

2. ब्रह्मा के मानस पुत्र कौन थे ?

   अ. आचार्य नारद

   ब. आचार्य वृहस्पति

   स. आचार्य पुरन्दर

   द. कोई नहीं

3. वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यो में किसका नाम नही है –

   अ. आचार्य नारद

   ब. आचार्य वृहस्पति

   स. वराहमिहिर

   द. आचार्य पुरन्दर

4. शौनक कृत "शौनक संहिता" में कितने काण्ड हैं –

   अ. 20

   ब. 23

   स. 34

   द. 24

अभ्यास प्रश्न – 2

निम्नलिखित में से सत्य असत्य का निर्धारण कीजिये

1. वास्तुशास्त्र के बारह अंग हैं। ()
2. वास्तुशास्त्र का मूल उद्गम ब्रह्माजी से हुआ है। ()
3. ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र का आपस में सम्बन्ध नही है ()
4. ब्रह्मा जी ने अपने मुख से विश्वकर्मा आदि की उत्पत्ति की ()

अभ्यास प्रश्न – 3

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये –

1. आचार्य कुमार .... परम्परा के आचार्य हैं।

2. ऋग्वेद में वास्तु शब्द का प्रयोग .... के लिए हुआ है।
3. ब्रह्मा जी ब्रह्मा के विश्वभू नामक मुख से .... की उत्पत्ति हुयी।
4. आचार्य वराहमिहिर के अनुसार वास्तुशास्त्रज्ञों की संख्या .... है।

1.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि वास्तुशास्त्र का उद्भव किन प्रवर्तक आचार्यों से हुआ तथा इस शास्त्र की आचार्य परम्परा कौन सी है? इस शास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों का वर्णन भी आपने पढ़ा। उनका विस्तृत परिचय जानकर उनके कृतित्व से भी आप परिचित हुए। कुछ आचार्य वेदांग ज्योतिष के संहिता स्कन्ध से वास्तु का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानते है, कुछ विद्वान अष्टाङ्गवास्तु में वास्तु के आठ अङ्गों में ज्योतिष को भी एक अङ्ग मानते हैं। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में ज्योतिष और वास्तुशास्त्र का अङ्गांगीभाव सिद्ध होता है। इसलिए वास्तु' के प्रवर्तक आचार्य और ज्योतिष के प्रवर्तक आचार्यों में कहीं-कहीं साम्यता भी दृष्टिगोचर होती है।

1.5 शब्दावली

प्रवर्तक	-	प्रचलित करने वाला।
अष्टाङ्गवास्तु	-	वास्तुशास्त्र के आठ अंग।
संहिता	-	ज्योतिष शास्त्र के तीन स्कन्धो में एक स्कन्ध जिसके अंतर्गत सामूहिक फल का विचार किया जाता है।
सूत्र शैली	-	कम शब्दों में बात कहना अथवा संक्षेपीकरण।
स्वस्तिवाचन	-	कल्याणकारी वचन।
द्राविड	-	स्कन्द पुराण के अनुसार विन्ध्याचल से दक्षिण दिशा का क्षेत्र या प्रदेश, वर्तमान में इसका अर्थ दक्षिण भारत से भी ग्रहण किया जाने लगा है।

1.6 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न – 1

1. ब. 32
2. अ. आचार्य नारद
3. स.वराहमिहिर
4. अ. 20

अभ्यास प्रश्न – 2

1. असत्य
2. सत्य
3. असत्य

4. सत्य

अभ्यास प्रश्न – 3

1. द्राविड
2. भवन
3. विश्वकर्मा
4. सात

1.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. बार्हस्पत्यसूत्रम्
2. नारद संहिता
3. मत्स्यपुराण
4. अग्निपुराण
5. विश्वकर्माप्रकाश

इकाई 2 वास्तुशास्त्र के प्रमुख आचार्य

इकाई की संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 वास्तुशास्त्र के आचार्य

2.3 वास्तुशास्त्र के आचार्यों का परिचय

2.4 सारांश

2.5 शब्दावली

2.6 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

वास्तुशास्त्र के आचार्य नामक इस इकाई के अध्ययन से आप समझ पायेंगे कि -

- वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों के अनन्तर वास्तु परम्परा किस प्रकार विकसित हुयी।
- वास्तुशास्त्र का प्रायोगिक पक्ष किस प्रकार मानव कल्याण के लिये प्रचारित-प्रसारित हुआ।
- वास्तुशास्त्र की आचार्य परम्परा किस प्रकार नागर एवं द्राविण शैली में विकसित हुयी।
- द्राविण तथा नागर परम्परा के प्रवर्तक आचार्य कौन-कौन हैं।
- वास्तुशास्त्र के आचार्यो के व्यक्तित्व व कृतित्व का विस्तृत परिचय।
- वास्तुशास्त्र के आचार्यों द्वारा स्थापित नियम आदि का विस्तृत ज्ञान।
- वास्तुशास्त्र की गौरवशाली आचार्य परम्परा को जानकर वास्तुशास्त्र के अध्ययन में रुचि जागृत होगी।

2.1 प्रस्तावना

सम्पूर्ण विश्व में भारतीय वास्तुशास्त्र के प्रचार प्रसार का सबसे बड़ा कारण यह भी है कि भारतीय वास्तु शास्त्र का आधार ही मनुष्य को मानसिक दृष्टि से सुख प्रदान करना है। क्योंकि भारतीय वास्तु शास्त्र केवल मनुष्य के शारीरिक सुख का ही नहीं अपितु मानसिक सुख का भी विचार करता है। भारतीय वास्तुशास्त्र केवल ऐसे भवन की कल्पना नहीं करता जिस में रहकर मानव को केवल भौतिक सुख ही मिले अपितु ऐसे भवन की भी कल्पना करता है, जिसमें मनुष्य प्रसन्न चित्त रहें और उसका जीवन समृद्धि और सुखमय हो और भवन में रहने वाले सभी लोगों में पारस्परिक सौहार्द और सामंजस्य की भावना हो। यही भारतीय वास्तुशास्त्र का मूल उद्देश्य है, और इसी मूल उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भारत के ऋषियों ने आचार्यों ने वास्तु

शास्त्र के विविध ग्रन्थों का निर्माण किया।

भारतीय वास्तुशास्त्र विश्व में एक अनमोल धरोहर है, सम्पूर्ण विश्व में भारत ही एक ऐसा राष्ट्र है जहां पर वास्तु जैसी आवश्यकता के लिए प्रमाण सिद्धान्तों को विस्तार से लिखित रूप दिया गया है। ऐसा ज्ञान विश्व के अन्य किसी भी देश के पास नहीं है, यह मानव के उस उन्नत ज्ञान का आधार है जिसमें उसके सुखमय जीवन यापन की लालसा के साथ ही सुख आवास की भावना नीहित है। सामान्यतया तो जानवरों-पशु-पक्षियों तक ने अपने लिए उचित आवासों का निर्माण किया और भटकाव को विराम देने का प्रयत्न किया है, तब मानव भला क्यों ऐसा नहीं करें।

कृषि के विकास के साथ ही मानवीय जीवन में एक अद्भुत ठहराव आया और उसने आवास की दिशा में अपना ध्यान आकर्षित किया भारतीय उपमहाद्वीप में हड़प्पा आदि के उत्खनन बतलाते हैं कि मानव ने आवास नगर आदि से अपनी सांस्कृतिक पहचान बनाने का भी प्रयास किया और प्रथम तथा पंचतत्वों को महत्व देते हुए आवासीय सुविधाओं का विकास किया। इस प्रकार के कुछ नगर कुछ वर्षो पहले अरब सागर में भी खोजे गए हैं, निश्चय ही मानव ने अपने आवास के लिए बहुत गहन विचार किया और यथा आवश्यक आवासों को आकार दिया। यह आवास गृह से लेकर देवप्रासाद आदि भी रहे हैं।

वास्तुशास्त्र के आचार्यों ने एकमत से माना है कि स्त्री पुत्र आदि के भोग, सुख, धर्म, अर्थ, काम को देने वाला प्राणियों के सुख का स्थान और शीत, वायु, गर्मी, वर्षा, सर्दियों से रक्षा सुरक्षा करने वाला आवास ही होता है।

स्त्रीपुत्रादिकभोग्यसौख्यजननं धर्मार्थकामप्रदम्।
जन्तूनामयनं सुखास्पदमिदं शीताम्बुधर्मापहम्।

वापीदेवगृहादिपुण्यमखिलं गेहात्समुत्पाद्यते।
गेहं पूर्वमुशन्ति तेन बिबुधाः श्रीविश्वकर्मादयः॥

इस प्रकार विधि पूर्वक गृह निर्माण कर्ता को बावड़ी देवालय आदि के निर्माण का पुण्य भी प्राप्त होता है। इसीलिए विश्वकर्मा आदि ने सर्वप्रथम गृह निर्माण का आदेश प्रदान किया है। आचार्यों ने तो यह भी कहा है कि पर्णशाला से उर के निर्माण से कोटि गुना, मिट्टी के गृह निर्माण से 10 गुना, इष्टिका के गृह से सौ गुना और पहाड़ों का गृह बनाने से अनंत गुना पुण्य की प्राप्ति होती है। इसका सामान्य भाव यह है कि व्यक्ति को अपने लिए शास्त्र सम्मत सुदृढ़ आवास का निर्माण आवश्यक रूप से करना चाहिए यह आवास चिरस्थाई और सुखद होता है। इसी मान्यताओं को लेकर प्रत्येक काल में आवासों की सुंदरता सुंदरता और स्थायित्व के लिए विविध प्रयास किए जाते रहे तथा इन प्रयासों ने वास्तु विज्ञान को विकास की विधि से वैभव के विस्तृत भी उनकी ओर अग्रसर किया विविध लोकेशन के लिए यही विचार आधार बना होगा। भारतीय वास्तुशास्त्र समग्र निर्माण (भवन आदि का) विधि एवं प्रक्रिया प्रतिपादक शास्त्र है। इस शास्त्र की उत्पत्ति स्थापत्यवेद से हुई है, जो अथर्ववेद के उपवेद के रूप में प्रसिद्ध है। यह स्थापत्य विज्ञान है, जो प्रकृति के पाँच मूलभूत तत्त्वों (पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं आकाश) का संयोजन करती है तथा उनका मनुष्य एवं पदार्थों के साथ सामञ्जस्य स्थापित करती है। यह वास्तु सम्मत भवनों में रहने वाले प्राणियों के स्वास्थ्य, धन-धान्य, प्रसन्नता एवं समृद्धि के लिए कार्य करती है। ऋग्वेद की एक ऋचा में वैदिक-ऋषि वास्तोष्पति से अपने

संरक्षण में रखने तथा समृद्धि से रहने का आशीर्वाद प्रदान करने हेतु प्रार्थना करता है। ऋषि अपने द्विपदों (मनुष्यों) तथा चतुष्पदों (पशुओं) के लिए भी वास्तोष्पति से कल्याणकारी आशीर्वाद की कामना करता है। जैसा कि ऋग्वेद में (7/54/1) ऋषि उद्घोष करते हैं -

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।
यत् त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ।।

ज्योतिष शास्त्र के संहिता भाग में सर्वाधिक रूप से वास्तुविद्या का वर्णन उपलब्ध होता है। ज्योतिष के विचारणीय पक्ष दिग्-देश-काल के कारण ही वास्तु ज्योतिष के संहिता भाग में समाहित हुआ । वैदिक काल से ही ज्योतिष शास्त्र मानव जीवन के विविध पक्षों का सूक्ष्मातिसूक्ष्म विचार करता आ रहा है । हजारो-हजारों वर्षों से हमारे आचार्य इस क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार भृगु, अत्रि, वसिष्ठ आदि ऋषियों ने वास्तुशास्त्र की विस्तृत व्याख्या करके उच्च कीर्तिमान स्थापित किये हैं । इनमें विश्वकर्मा एवं मय वास्तुशास्त्र के सुविख्यात आचार्य रहे हैं । ये दोनों वास्तुशास्त्र के समकालीन प्रतिद्वन्द्वी माने जाते हैं । विश्वकर्मा एवं मय के अनुयायियों ने भवननिर्माण के अनेकों नियमों की व्याख्या वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों में की है। इन ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र के उद्देश्यों एवं आवश्यकता पर विशेष रूप से प्रकाश डाला गया है।

वास्तु शास्त्र के कालखंड को देखें तो पूर्व मध्यकाल तक तो राज प्रसाद के निर्माण के विभिन्न नियम तय भी हो गए, तथा दरबारियों के साथ ही सेवकों, भृत्तों,, जनसामान्य के लिए यथा भवन आदि के निर्माण तथा स्थान आदि के चयन के निर्देश दिए जाने लगे थे। मयमतम, मानसार, विश्वकर्मा शिल्पशास्त्र, मनुष्यालय लक्षण, जयपृच्छा, मनुष्यालय सोपान, नारद शिल्प, कश्यप शिल्प, वास्तु तंत्र, विश्वकर्मा प्रकाश, अपराजित पृच्छा, समरांगण सूत्रधार, प्रयोग मंजरी आदि सौ से अधिक ग्रन्थों में इस प्रकार के विविध विचारों को प्रतिपादित किया गया है। इस इकाई में आप सभी वास्तु शास्त्र के आचार्यों के विषय में विस्तार से जानेंगे और आचार्यों के अनुभव प्रमाण संदेश को लेकर उनका विस्तृत परिचय भी प्रदान किया जाएगा। वास्तुशास्त्र के आचार्यों में उन आचार्यों की गणना की जाती है, जिन आचार्यों की चर्चा विविध पुराणों तथा विविध ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती, परन्तु प्राचीन परंपरा में इन आचार्यों के वास्तुशास्त्र पर स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। पिछले इकाई में आप ने वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यो के विषय में आपने पढ़ा और समझा कि प्रवर्तक आचार्यो के ग्रन्थ लुप्त प्राय हो चुके हैं:, परन्तु वास्तु परम्परा के संरक्षण और संवर्धन के लिए जिन आचार्यो ने अपनी तपस्या से वास्तुशास्त्र के अध्येताओ को उपकृत किया उनको इस इकाई के अंतर्गत "वास्तुशास्त्र के आचार्य" के नाम से जानेंगे। वास्तुशास्त्र दो परम्पराओं के रूप में विकसित हुआ।

1. विश्वकर्मा परम्परा
2. मय परम्परा।

विश्वकर्मा नागर परम्परा के प्रवर्तकाचार्य तथा मय द्राविड परम्परा के जनक कहलाए। विश्वकर्मा देवशिल्पि और मयाचार्य दानवशिल्पि के रूप में विख्यात हुए। महाभारत में एक प्रसंग में आचार्य मय कहते हैं -

"अहं हि विश्वकर्मा दानवानां महाकाविः।।"

इन दोनों परम्पराओं में वास्तुशास्त्र के अनेक आचार्य हुये जिन्होने अपने तपस्या और ज्ञान से हमें शास्त्र का परिचय करवाया। इन ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों का अनुपालन अद्यावधि भवनों के निर्माण में किया जाता है। रामायण के अनुसार- "मय दिति के पुत्र थे, स्वर्ग की अप्सरा हेमा इनकी पत्नी थी और मन्दोदरी इनकी पुत्री थी। जिसका विवाह रावण से हुआ। इस प्रकार यह रावण के श्वसुर थे। मयाचार्य ने पाण्डवों के सभा भवन, पुष्पक विमानादि अनेक रचनायें की। इनका प्रमुख ग्रन्थ "मयमतम्' है। इसके अतिरिक्त मानसार, कश्यपशिल्प, मनुष्यालयचन्द्रिका, ईशानशिवगुरूदेव पद्धति आदि मय परम्परा के प्रमुख ग्रन्थ है। वराहमिहिर, भोजराज, सूत्रधारमण्डन आदि को वास्तुशास्त्र का आचार्य माना जाता है। इन आचार्यो ने वास्तुशास्त्र पर स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। इन ग्रन्थों में वास्तुशास्त्र के विविध सिद्धान्तों का विस्तार पूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। वास्तुशास्त्र के आचार्य निम्नलिखित माने जा सकते है –

1. आचार्य वाराहमिहिर
2. आचार्य महाराजाधिराज भोजराज
3. आचार्य सूत्रधार मण्डन
4. आचार्य आचार्य भुवनदेव
5. आचार्य टोडरमल्ल
6. आचार्य रामदैवज्ञ
7. आचार्य मानसार
8. आचार्य जीवनाथ
9. आचार्य सूत्रधार गोविन्द
10. आचार्य वासुदेव द्विज
11. आचार्य नीलकण्ठन
12. आधुनिक या वर्तमान के आचार्य

2.2 वास्तुशास्त्र के आचार्य

वास्तुशास्त्र के आचार्य परंपरा में अनेक आचार्य हुये हैं जिनमें प्रथम नाम वराहमिहिर का है।

आचार्य वराहमिहिर

आचार्य वराहमिहिर का नाम ज्योतिष और वास्तु शास्त्र में सर्वोपरि माना जाता है। इन्होनें गणित एवं ज्योतिष का ज्ञान अपने पिता आदित्यदास से ही परम्परागत विधि के द्वारा प्राप्त किया था। आचार्य वराहमिहिर नें स्वयं अपने ग्रन्थरत्न वृहज्जातक में लिखा है -

आदित्यादासतनयस्तद्वाप्तबोधः कास्पित्थके सवित्रृलब्ध्वरप्रसादः।
आवन्तिको मुनिमतान्यवलोक्य सम्यक् होरावराहमिहिरो रुचिरां चकार॥

वराहमिहिर ही पहले आचार्य हैं जिन्होंने ज्योतिष शास्त्र को सिद्धान्त, संहिता तथा होरा के रूप में स्पष्ट रूप से व्याख्यायित किया। इन्होंने तीनों स्कंधों के निरूपण के लिए तीनों स्कंधों से संबद्ध अलग-अलग ग्रन्थों की रचना की। सिद्धान्त (गणित)- स्कंध में उनकी प्रसिद्ध रचना है- पंचसिद्धांतिका, संहितास्कंध में बृहत्संहिता तथा होरास्कंध में बृहज्जातक मुख्य रूप से

परिगणित हैं। इन्हें शकाब्द 427 में विद्यमान बताया जाता है। ये उज्जैन के रहने वाले थे इसीलिए ये अवन्तिकाचार्य भी कहलाते हैं। इनके पिता आदित्यदास थे, उनसे इन्होंने सम्पूर्ण ज्योतिर्ज्ञान प्राप्त किया। जैसे ग्रहों में सूर्य की स्थिति है, वैसे ही दैवज्ञों में वराहमिहिर का स्थान है। वे सूर्यस्वरूप हैं। उनकी रचना-शैली संक्षिप्तता, सरलता, स्पष्टता, गूढ़ार्थवक्तृता और पांडित्य आदि गुणों से परिपूर्ण है। इनका बृहज्जातक ग्रन्थ फलित शास्त्र का सर्वाधिक प्रौढ़ तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। इस पर भट्टोत्पली आदि अनेक महत्वपूर्ण टीकाएं हैं। आचार्य वराहमिहिर ने इस विज्ञान को अपनी प्रतिभा द्वारा बहुत विलक्षणता प्रदान की। ये भारतीय ज्योतिष शास्त्र के मार्तण्ड कहे जाते हैं।

यद्यपि आचार्य के समय तक (नारद संहिता आदि में) ज्योतिष शास्त्र संहिता, होरा तथा सिद्धान्त- इन तीन भागों में विभक्त हो चुका था तथापि आचार्य ने उन्हें और भी व्यवस्थित कर उसे वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान किया। ज्योतिष के सिद्धान्त स्कंध से संबद्ध इनके पंचसिद्धांतिका नामक ग्रन्थ की यह विशेषता है कि इसमें इन्होंने अपना कोई सिद्धान्त न देकर अपने समय तक के पूर्ववर्ती पांच आचार्यों (पितामह, वशिष्ठ, रोमश, पौलिश तथा सूर्य) के सिद्धान्तों (अभिमतों) का संकलन कर महत्वपूर्ण कार्य किया है। इनकी बृहत्संहिता-स्कंध का सबसे प्रौढ़ तथा मान्य ग्रन्थ है। इसमें 106 अध्याय हैं। इस पर भट्टोत्पल की टीका बड़ी प्रसिद्ध है।

फलित ज्योतिष का बृहज्जातक को दैवज्ञों का कंठहार ही है। इसमें 28 अध्याय हैं। इसमें स्वल्प में ही फलित ज्योतिष के सभी पक्षों का प्रामाणिक वर्णन है। इसमें पूर्व प्रचलित पाराशरीय विंशोतरी दशा को न मानकर नवीन दशा-निरूपण दिया हुआ है। इस ग्रन्थ का नष्टजातकाध्याय बड़े ही महत्व का है। भारतीय इतिहास में इनको गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है तथा इनके द्वारा निर्मित समय मापक घटयंत्र, वेधशाला, लौहस्तम्भ आदि का भी वर्णन प्राप्त होता है। महान खगोलज्ञ आर्यभट्ट से मिलने पर इन्हें ज्योतिष विद्या एवं खगोल ज्ञान में कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। विक्रमादित्य ने इन्हें अपनी सभा के नवरत्नों में स्थान प्रदान किया। इन्होंने ज्योतिषशास्त्र के तीनों स्कन्ध (सिद्धान्त-संहिता-होरा) पर अपना अविस्मरणीय योगदान दिया है। वास्तुशास्त्र ज्योतिष का ही अङ्गरूप है इसमें कोई संदेह नहीं है। ज्योतिष के संहितास्कन्ध में वास्तु के विषय को यथावत् प्रस्तुत किया गया है। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में भी वास्तुविद्या का स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। इन्होंने न केवल भारत में अपितु सुदूर स्थित यूनान आदि देशों में भी भारतीय-ज्ञान-परम्परा का परचम लहराया है। इस प्रकार सन् 499-587 तक इनका जीवनकाल अनेक आविष्कारों के साथ आगे बढ़ा। इनके द्वारा रचित समस्त ग्रन्थों को आज भी ग्रन्थरत्न माना जाता है। वराहमिहिर द्वारा रचित ग्रन्थ निम्नलिखित है-

1. पञ्चसिद्धान्तिका
2. बृहज्जातक
3. लघुजातक
4. बृहद्संहिता
5. टिकनिकयात्रा
6. बृहद्यात्रा या महायात्रा
7. योगयात्रा या स्वल्पयात्रा
8. बृहद् विवाहपटल

9. लघुविवाहपटल
10. कुतूहल मंजरी
11. दैवज्ञवल्लभ
12. लग्नवाराही

आचार्य वराहमिहिर को वास्तुविषयक ज्ञान अत्यन्त विस्तार पूर्वक था। उन्होंने अपने संग्रह ग्रन्थ वृहद्संहिता में कश्यप, पराशर, देवल आदि पूर्व आचार्यों की संहिताओं का संग्रह कर नये नये विषयों को प्रतिपादित किया है।

आचार्य महाराजाधिराज भोजराज

महाराजाधिराजभोजराज भारत के महान शासकों में से एक थे। वह चतुर्मुखी प्रतिभासम्पन्न राजा माने जाते थे। इन्होंने सन् 1018-1060 तक सम्पूर्ण भारत में राज किया था। इनकी राजधानी धारा नगरी थी, इसी कारण से इन्हें धराधिप, धारेश्वर के नाम से भी जाना जाता है। इन्होंने अपनी राजधानी में सरस्वती मन्दिर एवं सरस्वती पाठशाला का भी निर्माण करवाया था भोजराज ने अनेक ग्रन्थों का प्रतिपादन किया और करवाया था। इन्होंने भोपाल के रम्य प्राकृतिक वातावरण में एक अत्यधिक सुन्दर 250-350 वर्गमील का एक अतिविशाल कृत्रिम तालाब का भी निर्माण करवाया था, जो वर्तमान में यथास्थिति में प्राप्त होता है।

अल्पायु में सिंहासनारोहण के समय महान राजा भोज चारों ओर से शत्रुओं से घिरे थे। उन्होंने सब को हराया। भोज नाम से और भी राजा हुए हैं जैसे मिहिर भोज। हम यहां बात कर रहे हैं उन राजा भोज की जिन्होंने अपनी राजधानी धार को बनाया था। उनका जन्म सन् 980 में महाराजा विक्रमादित्य की नगरी उज्जैनी में हुआ। राजा भोज चक्रवर्ती सम्राट विक्रमादित्य के वंशज थे। पन्द्रह वर्ष की छोटी आयु में उनका राज्य अभिषेक मालवा के राजसिंहासन पर हुआ। प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान डॉ. रेवा प्रसाद द्विवेदी ने प्राचीन संस्कृत साहित्य पर शोध के दौरान मलयाली भाषा में भोज की रचनाओं की खोज करने के बाद यह माना है कि राजा भोज का शासन सुदूर केरल के समुद्र तट तक था। ग्वालियर से मिले महान राजा भोज के स्तुति पत्र के अनुसार केदारनाथ मंदिर का राजा भोज ने 1076 से 1099 के बीच पुनर्निर्माण कराया था। राहुल सांकृत्यायन के अनुसार यह मंदिर 12-13वीं शताब्दी का है। इतिहासकार डॉ. शिव प्रसाद डबराल मानते हैं कि शैव लोग आदिशंकराचार्य से पहले से ही केदारनाथ जाते रहे हैं, तब भी यह मंदिर मौजूद था। कुछ इतिहासकारों अनुसार राजा भोज परमार मालवा के 'परमार' अथवा 'पवार वंश' के नौवें यशस्वी राजा थे। उन्होंने 1018 ईस्वी से 1060 ईस्वी तक शासन किया। कुछ विद्वानों अनुसार परमार वंश ने मालवा पर सन् 1000 से 1285 तक राज किया। भोजराज इसी महाप्रतापी वंश की पांचवीं पीढ़ी में थे। कुछ विद्वान मानते हैं कि महान राजा भोज (भोजदेव) का शासनकाल 1010 से 1053 तक रहा। राजा भोज ने अपने काल में कई मंदिर बनवाए। राजा भोज के नाम पर भोपाल के निकट भोजपुर बसा है। धार की भोजशाला का निर्माण भी उन्होंने कराया था। कहते हैं कि उन्होंने ही मध्यप्रदेश की वर्तमान राजधानी भोपाल को बसाया था जिसे पहले 'भोजपाल' कहा जाता था। इनके ही नाम पर भोज नाम से उपाधी देने का भी प्रचलन शुरू हुआ जो इनके ही जैसे महान कार्य करने वाले राजाओं की दी जाती थी। भारत के सांस्कृतिक गौरव के जो स्मारक हमारे पास हैं, उनमें से अधिकांश राजा भोज की देन हैं, चाहे विश्वप्रसिद्ध भोजपुर मंदिर हो या विश्वभर के शिवभक्तों के श्रद्धा के केंद्र उज्जैन स्थित

महाकालेश्वर मंदिर, धार की भोजशाला हो या भोपाल का विशाल तालाब- ये सभी राजा भोज के सृजनशील व्यक्तित्व की देन हैं। राजा भोज नदियों को जोड़ने के कार्य के लिए भी पहचाने जाते हैं। आज उनके द्वारा खोदी गई नहरें और जोड़ी गई नदियों के कारण ही नदियों के कंजर्व वाटर का लाभ आम लोगों को मिल रहा है। भोपाल शहर का बड़ा तालाब इसका उदाहरण है। भोज ने भोजपुर में एक विशाल सरोवर का निर्माण कराया था, जिसका क्षेत्रफल 250 वर्ग मील से भी अधिक विस्तृत था। यह सरोवर पन्द्रहवीं शताब्दी तक विद्यमान था, जब उसके तटबन्धों को कुछ स्थानीय शासकों ने काट दिया। उन्होंने जहां भोज नगरी (वर्तमान भोपाल) की स्थापना की वहीं धार, उज्जैन और विदिशा जैसी प्रसिद्ध नगरियों को नया स्वरूप दिया। उन्होंने केदारनाथ, रामेश्वरम, सोमनाथ, मुण्डीर आदि मंदिर भी बनवाए, जो हमारी समृद्ध सांस्कृतिक धरोहर हैं।

राजा भोज ने शिव मन्दिरों के साथ ही सरस्वती मन्दिरों का भी निर्माण किया। राजा भोज ने धार, मांडव तथा उज्जैन में 'सरस्वतीकण्ठभरण' नामक भवन बनवाए थे जिसमें धार में 'सरस्वती मंदिर' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। एक अंग्रेज अधिकारी सीई लुआर्ड ने 1908 के गजट में धार के सरस्वती मंदिर का नाम 'भोजशाला' लिखा था। पहले इस मंदिर में मां वाग्देवी की मूर्ति होती थी। मुगलकाल में मंदिर परिसर में मस्जिद बना देने के कारण यह मूर्ति अब ब्रिटेन के म्यूजियम में रखी है।

महाराजा भोज से सम्बन्धित 1010 से 1055 ई. तक के कई ताम्रपत्र, शिलालेख और मूर्तिलेख प्राप्त होते हैं। भोज के साम्राज्य के अंतर्गत मालवा, कोंकण, खानदेश, भिलसा, डूंगरपुर, बांसवाड़ा, चित्तौड़ एवं गोदावरी घाटी का कुछ भाग शामिल था। उन्होंने उज्जैन की जगह अपनी नई राजधानी धार को बनाया। राजा भोज को उनके कार्यों के कारण उन्हें 'नवसाहसाक' अर्थात् 'नव विक्रमादित्य' भी कहा जाता था। महाराजा भोज इतिहास प्रसिद्ध मुंजराज के भतीजे व सिंधुराज के पुत्र थे। उनकी पत्नी का नाम लीलावती था।

राजा भोज स्वयं एक विद्वान होने के साथ-साथ काव्यशास्त्र, वास्तुशास्त्र एवं व्याकरण के बड़े जानकार थे और उन्होंने बहुत सारे ग्रंथो की रचना किया । मान्यता अनुसार भोज ने 64 प्रकार की सिद्धियां प्राप्त की थीं तथा उन्होंने सभी विषयों पर 84 ग्रन्थ लिखे जिसमें धर्म, ज्योतिष, आयुर्वेद, व्याकरण, वास्तुशिल्प, विज्ञान, कला, नाट्यशास्त्र, संगीत, योगशास्त्र, दर्शन, राजनीतिशास्त्र आदि प्रमुख हैं। इनकी प्रमुख रचनायें निम्नलिखित हैं –

1. समरांगण सूत्रधार
2. सरस्वतीकंठाभरण
3. सिद्वांतसंग्रह
4. राजकार्तड
5. योगसूत्रवृत्ति
6. विद्या विनोद
7. युक्ति कल्पतरु
8. चारु चर्चा
9. आदित्य प्रताप सिद्धान्त

10. आयुर्वेद सर्वस्व श्रृंगार प्रकाश
11. प्राकृत व्याकरण
12. कूर्मशतक
13. श्रृंगारमंजरी
14. भोजचम्पू
15. कृत्यकल्पतरु
16. तत्वप्रकाश
17. शब्दानुशासन आदि ग्रन्थों की रचना की।

'भोज प्रबंधनम्' नाम से उनकी आत्मकथा है। हनुमानजी द्वारा रचित रामकथा के शिलालेख समुद्र से निकलवाकर धारा नगरी में उनकी पुनर्रचना करवाई, जो हनुमन्नाटक के रूप में विश्वविख्यात है। तत्पश्चात उन्होंने चम्पू रामायण की रचना की, जो अपने गद्यकाव्य के लिए विख्यात है। विद्वानों की परम्परा के विषय में इनका योगदान इसी श्लोक से सिद्ध है कि -

अद्य धारा सदाधारा   सदालम्बा सरस्वती ।
पण्डिता मण्डिता सर्वे भोजराजे भुवि स्थिते ।।

आईन-ए-अकबरी में प्राप्त उल्लेखों के अनुसार भोज की राजसभा में 500 विद्वान थे। इन विद्वानों में नौ (नौरत्न) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। महाराजा भोज ने अपने ग्रन्थों में विमान बनाने की विधि का विस्तृत वर्णन किया है। इसी तरह उन्होंने नाव व बड़े जहाज बनाने की विधि का विस्तारपूर्वक उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने रोबोट तकनीक पर भी काम किया था।

मालवा के इस चक्रवर्ती, प्रतापी, काव्य और वास्तुशास्त्र में निपुण और विद्वान राजा, राजा भोज के जीवन और कार्यों पर विश्व की अनेक विश्वविद्यालयो में शोध कार्य हो रहा है। इसके अलवा गौतमी पुत्र शतकर्णी, यशवर्धन, नागभट्ट और बप्पा रावल, मिहिर भोज, देवपाल, अमोघवर्ष, इंद्र द्वितीय, चोल राजा, राजेंद्र चोल, पृथ्वीराज चौहान, विक्रमादित्य, हरिहर राय और बुक्का राय, राणा सांगा, अकबर, श्रीकृष्णदेववर्मन, महाराणा प्रताप, गुरुगोविन्द सिंह, शिवाजी महाराज, पेशवा बाजीराव और बालाजी बाजीराव, महाराजा रणजीत सिंह आदि के शासन में भी जनता खुशहाल और निर्भिक रही। भोजराज ने ना केवल अपने राज्य में अपितु सम्पूर्ण भारत में वापी, कूप, तालाब इत्यादि का निर्माण करवाया था। इन्होंने ज्योतिष और वास्तुविद्या के संरक्षण में भी महान कार्य किया और राजमार्तण्ड, समराङ्गणसुत्रधार, युक्तिकल्पतरु नामक ज्योतिष वास्तु के ग्रन्थों की रचना की, इसके अतिरिक्त जिनमें भोजराज ने नीति-धर्मशास्त्र-व्याकरण-चिकित्सा-काव्य-कोष इत्यादि विषयों पर अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। अपने शासन काल के अंतिम वर्षों में भोज परमार को पराजय का अपयश भोगना पड़ा। गुजरात के चालुक्य राजा तथा चेदि नरेश की संयुक्त सेनाओं ने लगभग 1060 ई. में भोज परमार को पराजित कर दिया। इसके बाद ही उसकी मृत्यु हो गई।

सूत्रधारमण्डन

आचार्य मण्डन का नाम परवर्ती आचार्यों में सर्वोपरि है। महाराणा कुम्भा के प्रसिद्ध दरबारी विद्वानमण्डन अथवा सूत्रधारमण्डन गुजरात के खेता ब्राह्मण के पुत्र थे। विश्व प्रसिद्ध कुम्भलगढ़ दुर्ग के शिल्पी मण्डन ही थे। सूत्रधारमण्डन अपने समय में भारत के सर्वश्रेष्ठ शिल्पशास्त्र के आचार्यों में से एक थे। यह शुभाशुभ काल को देखकर कोई भी निर्णय करते थे। इनके दो पुत्र थे गोविन्द और ईश्वर। महाराणा कुंभा के आश्रित कवि मण्डन के लिखे ग्रन्थों के अनुसार महाराणा कुम्भा रत्नों से जड़े सुंदर सिंहासन पर विराजमान होते थे। इन्होंने वास्तुशास्त्र के प्रत्येक क्षेत्र पर अपनी शोध की दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है तथा ग्रन्थों का लेखन कर आगामी पीढ़ी के लिये एक सीढ़ी का काम किया है। आधारयुक्त इनके विषय में प्राप्त होता है कि इनका जन्म गुजरात के सोमपुरा शिल्पज्ञ कुल में हुआ था। इनके गोत्र के विषय में कहा जाता है कि इनका गोत्र भारद्वाज था। महाराणा कुम्भा का राज्यकाल विक्रम सम्वत 1490-1525 तदनुसार 1433-1468 ई. माना जाता है। इनका सबसे उत्तम कार्य यह रहा कि इन्होंने अपने लिखित ग्रन्थों में अपने नाम को मण्डन शब्द से सम्बोधित किया है, जिससे इनके द्वारा रचित ग्रन्थों की पहचान करना सरल रहा।

सूत्रधारमण्डन के वंशानुक्रम के विषय राजवल्लभ में प्राप्त वर्णन के अनुसार यह दो भाई थे। इनके पिता का नाम क्षेत्रार्क था। गोविन्द और ईश्वर नाम से इनके दो पुत्र हुए इस प्रकार इनका वंश आगे बढ़ा। सूत्रधार मण्डन केवल सूत्रधार ही नहीं अपितु शास्त्रज्ञ और शास्त्र प्रणेता भी थे। इनके पूर्व प्रचलित शिल्प शास्त्रीय मान्यताओं का पर्याप्त अध्ययन इन्होंने किया था, और संस्कृत भाषा का भी अच्छा अभ्यास किया था उनकी कृतियों में मत्स्य पुराण से लेकर अपराजित पृच्छा और हेमाद्री तथा गोपाल भट्ट के संकलनों का भी प्रभाव है। इस प्रकार शास्त्र और लोक में शिल्प और वास्तु के सम्बन्ध में जो स्वस्थ्य और उपयोगी मान्यताएं तथा परंपराएं थी उन सब का सम्यक् अध्ययन करके तथा उनके प्रति उचित दृष्टिकोण अपनाकर अपने व्यक्तिगत प्रयोगात्मक अनुभूतियों का आधार लेकर वास्तु और शिल्प के उन्होंने अनेक ग्रन्थ रचे। काशी के कविंद्र आचार्य 17वीं शताब्दी में हुये इनकी सूची में मण्डन के ग्रन्थों की नामावली मिलती है। इसमें सूत्रधार मण्डन के ग्रन्थ राजबल्लभ, वास्तु मण्डन, प्रसादमण्डन, रूपमण्डन, शिल्प और वास्तुशास्त्र शिल्पाचार्य की सूची 1921 में प्रकाशित हुई थी। जिसमें इनके विरचित ग्रन्थ निम्नलिखित हैं या सूत्रधारमण्डन विरचित ग्रन्थों की सूची इस प्रकार है।

1. देवतामूर्तिप्रकरणम्।
2. प्रासादमण्डन।
3. वास्तुमण्डन।
4. आपतत्व।
5. वास्तुमंजरी।
6. वास्तुसार।
7. वास्तुशास्त्र।
8. राजवाल्लभवास्तुशास्त्रम्।

आचार्य भुवनदेव

आचार्य भुवनदेव मेवाड़ के थे और इन्होंने लगभग बारहवीं शताब्दी तक अपनी कालजयी रचना अपराजितपृच्छा का सम्पादन किया था। अपराजित पृच्छा मात्र वास्तु-स्थापत्य पर आधारित नहीं है, अपितु इसमें ज्योतिष-वास्तु-गणितचित्र-मापन पद्धति-प्रतिमा-आयुध इत्यादि शस्त्रों की भी चर्चा की गई है। 12 वीं शताब्दी में प्रचलित सामाजिक परम्पराओं, आवश्यकताओं, शासकीय संकल्पों इत्यादि विविध विषयों का विस्तार पूर्वक वर्णन प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ पर भोजराज कृत समराङ्गण सूत्रधार का प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार से वास्तुशास्त्र के प्रवर्तकों तथा प्रमुख परवर्ती आचार्यों की चर्चा प्राप्त होती है। भुवनदेव कृत मन्दिर स्थापत्य और मूर्तिकला के मूलभूत ग्रन्थ अपराजितपृच्छा का सर्वाधिक महत्त्व वास्तु शास्त्र के अध्येताओ में दिखता है। आचार्य भुवनदेव शिवलिंग और मन्दिर स्थापत्य पर वास्तु समुच्चय शैवागम सम्मत ग्रन्थों का भी प्रणयन किया जो लुप्त हो चुके हैं ।

टोडर मल्ल

सर्व विदित है कि किसी भी प्रसिद्ध व्यक्ति के साथ अनेक प्रकार के स्थान या वंश जुड़ जाते हैं इतिहासकारों के साक्ष्यो से अंतिम निर्णय यही है कि टोडर मल्ल का जन्म टंडन वंश में हुआ था इसी टंडन वंश को बाला परिवार भही कहा गया है। यह परिवार चार स्थानों पर विशेष रूप से निवसित था – पंजाब, संयुक्त प्रान्त, अवध एवं आगरा। ये अकबर के दरबार में प्रधानमंत्री के रूप में भी कार्य किये इनका प्रधानमंत्री के रूप में कार्य करना अलभ्य अनेक पांडुलिपियों का इनके नाम से प्रकाशन से स्पष्ट होता है कि इनका जीवन कितना बौद्धिक एवं राजनैतिक दृष्टि से प्रतिष्ठापरक रहा होगा टोडर द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतो का प्रयोग आज भी भारत सरकार के राजस्व विभाग में किया जाता है अकबर की सेना में आने से पहले ये शेरशाह सूरी के राज्य कर्मचारी रहे थे, कुशाग्र बुद्धि के कारण ही सभी कर्मचारियों के बीच इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी, बाद में अकबर के शासन काल में क्रमशः सैनिक, सहायक दीवान, भूमि एवं उपमंत्री पद पर कार्य करने के अनंतर 1582 से 1589 तक प्रधानमंत्री के रूप में कार्य करते हुए 1589 के अंत में स्वर्गवासी हो गए।

इन्होने अकबर के दरबार में अपने 30 वर्षो के सेवाकाल में काशी के विश्वप्रसिद्ध विश्वनाथ मंदिर के निर्माण से लेकर नष्टप्राय अनेक शास्त्रीय ग्रंथो का संपादन कराकर शास्त्रों के प्रति अपना समर्पण भाव दिखाया था। इनको केन्द्रित कर अनेक आचार्यो ने टोडर जातक आदि ग्रंथो का निर्माण भी किया है इसी से इनकी विद्वत्ता और प्रमाणिकता का पता लगता है।

राम दैवज्ञ

विदर्भ देश के में धर्मपुर नामक ग्राम के ये निवासी थे, इनकी शिक्षा दीक्षा काशी से हुई, इनके पितामह चिंतामणि हुए ये अत्यंत तीक्ष्ण बुद्धि के व्याकरण के परम विद्वान थे। इनके पिता का नाम अनन्त दैवज्ञ था। जैसा कि मुहूर्त चिंतामणि में इन्होंने अपने वंश का वर्णन किया है कि इनके बड़े भाई का नाम श्री नीलकंठ दैवज्ञ था। शाके 1522 में इन्होंने काशी में मुहुर्त चिंतामणि की रचना की। ये ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र के उद्भट विद्वान थे।

तिरुमंगलत नीलकण्ठ मूसत

तिरुमंगलत नीलकण्ठ मूसत दक्षिण भारत के द्रविड़ परंपरा के आचार्य रहे हैं। इनका स्थान राजराजमंगल धाम नामक मंदिर के पास बताया गया है, जो वर्तमान में केरल प्रदेश के

मल्लपुरम जिले के तिरूर के पास अवस्थित है । तिरूर क्षेत्र में विद्यमान प्रकाश अथवा वेट्टम विषय से सम्बन्धित है विषय का अर्थ मलयालम में नाटो और अन्यत्र नाडु भी कहा गया है इनके गुरु का नाम सदाशिव है । इनकी एक रचना मनुष्यालय चंद्रिका प्राप्त होती है, जिसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थों का वर्णन किया है जिसमें मयमतम युग्म अर्थात् मयमत और मयदीपिका, प्रयोगमंजरी, निबन्ध, भागवत भास्करीयम, मनुमत, इशानशिवगुरुदेव पद्धति तथा श्रीहरियजन आदि महागम ग्रन्थ हैं।

आचार्य जीवनाथ

आचार्य जीवनाथ ज्योतिष शास्त्र एवं वास्तु शास्त्र के उद्भट आचार्य थे । यह मैथिल ब्राह्मण वंश के आचार्य हैं । इनका उस वंश से संबद्ध है जिसने वेद वेदांग से लेकर ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र का विशेष अध्ययन अध्यापन किया था । आचार्य का वंश अनेक शासकों के द्वारा सम्मानित हुआ था । वास्तु शास्त्र पर आचार्य जीवनाथ के द्वारा वास्तु रत्नावली नामक प्रमुख ग्रन्थ लिखा गया जोकि वर्तमान समय में वास्तुशास्त्र के अध्येताओं के लिए परम उपयोगी सिद्ध हो रहा है । इस प्रकार वास्तुशास्त्र के लिए इनकी परम्परा अत्यन्त प्रमाणिक रही है । वैसे तो जीवनाथ जी के द्वारा अन्य ग्रन्थ भी प्रणीत हैं परन्तु प्रमाणिक जानकारी के अभाव में उनका वर्णन यहां नहीं दिया जा रहा है।

सूत्रधार गोविन्द

आचार्य सूत्रधार गोविन्द वास्तु शास्त्र के परम आचार्य हैं। सूत्रधारमण्डन के वंश से इनका सम्बन्ध है। सूत्रधार गोविन्द मेद पाटेश्वर महाराणा रायमल के आश्रित आचार्य थे । ये वास्तु शास्त्र के देवालय विधान मंदिर प्रतिष्ठान तथा शिखर विधान के विशेषज्ञ के रूप में जाने जाते हैं । भारतीय वास्तु शास्त्र में नागर, वेसर तथा द्रविड़ जैसे प्रासादो के शिखर विधान के सम्बन्ध में मध्यकाल तक जो तकनीक प्रचलित थी उसमें सूत्रधार गोविन्द ने अनेक विशेषताओं का प्रयोग करते हुए तत्कालीन मन्दिरों पर प्रयोग किया, जोकि वास्तु शास्त्र में एक नवोन्मेष के रूप में वर्तमान में जाना जाता है । इस प्रकार आचार्य का योगदान वास्तुशास्त्र के अध्येताओं के लिए महानीय है। एवं वास्तु शिखर निर्माण में कला एवं रेखादी जैसे दुरूह विषयों को इन्होंने प्रयोगात्मक रूप से प्रस्तुत कर सरल मार्ग प्रशस्त किया।

आचार्य वासुदेव द्विज

इनके द्वारा वास्तुशास्त्र पर अद्वितीय ग्रन्थ वास्तु प्रदीप की रचना की गई है । इनकी विद्वत्ता संवत्सर विद्वानों के साथ साहचर्य से कथित एवं वास्तु विद्या विशारदो से आनंद पूर्वक इनके विषय में विस्तृत ज्ञातव्य है । वास्तुशास्त्रीय मुनियों के मत से जो व्यवहार वास्तुशास्त्र में प्रायोगिक रूप से प्रस्तुत करने वाले परम आचार्य वासुदेव द्विज वास्तुशास्त्र के आचार्य में श्रेष्ठ स्थान रखते हैं । इन्होंने सर्वप्रथम 16 प्रकार के गृहों का प्रथमत: वर्णन करते हुए उनके तत्वों का बोध वास्तु शास्त्र के अध्येताओ हेतु प्रस्तुत किया ।

आचार्य मानसार

आचार्य मानसार की विश्वविख्यात कृति मानसार प्राप्त होती है परन्तु इनका जीवन परिचय प्राप्य नही है । इनके अनुसार वास्तुशास्त्र के प्रवर्तक आचार्यों की संख्या 32 है ।

वर्तमान या आधुनिक विद्वान

वर्तमान समय में भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों, विद्यालयों में वास्तु शास्त्र से सम्बन्धित अध्ययन अध्यापन करवाया जा रहा है। जैसे राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय नई दिल्ली, लाल बहादुर नेशनल संस्कृत विश्वविद्यालय नई दिल्ली, तिरुपति नेशनल संस्कृत विश्वविद्यालय, काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी, कविकुलगुरु कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय, नागपुर, सोमनाथ संस्कृत विश्वविद्यालय, गुजरात, कामेश्वर सिंह दरभंगा विश्वविद्यालय, महर्षि पाणिनि संस्कृत विश्वविद्यालय उज्जैन इत्यादि। इसके अतिरिक्त साधारण विश्वविद्यालयों में भी वास्तुशास्त्र एवं ज्योतिष के विभिन्न पाठ्यक्रम के करवाए जाने लगे हैं।

सम्पूर्ण विश्व में अपनी पहचान बना चुकी इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय भी अब शास्त्रों का सुलभता से सबको ज्ञान देने के हेतु से इस ओर अग्रसर हो रही है, यह गौरव का विषय है। उपर्युक्त संस्थओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण भारत और विश्व में कई आचार्य वास्तुशास्त्र के संरक्षण और संवर्धन के लिए अपना जीवन समर्पित कर चुके हैं और कर भी रहे हैं।

अभ्यास प्रश्न – 1

निम्नलिखित में से सही विकल्प का चुनाव कीजिये

1. विश्वकर्मा किस परम्परा के प्रवर्तक आचार्य हैं -

   अ. वेशी

   ब. द्राविड

   स. नागर परंपरा

   द. कोई नही

2. दानव शिल्पि कौन थे ?

   अ. आचार्य मय

   ब. आचार्य वृहस्पति

   स. आचार्य विश्वकर्मा

   द. कोई नहीं

3. रामायण के अनुसार आचार्य मय किसके पुत्र हैं –

   अ. दिति

   ब. मन्दोदरी

   स. शूर्पणखा

   द. सीता

4. सूत्रधार मण्डन किसके दरबारी विद्वान थे –

   अ. अकबर

   ब. महाराणा कुंभा

   स. विक्रमादित्य

   द. महाराणा प्रताप

अभ्यास प्रश्न – 2

निम्नलिखित में से सत्य असत्य का निर्धारण कीजिये

1. आचार्य वराह मिहिर के पिता का नाम आदित्य दास था। ( )
2. राजा भोज वास्तुशास्त्र के साथ-साथ अन्य विषयों के विद्वान नही थे। ( )
3. सूत्रधार मण्डन गुजरात के निवासी थे। ( )
4. वाराहमिहिर विक्रमादित्य के नवरत्नों मे नही थे। ( )

अभ्यास प्रश्न – 3

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये –

1. विश्वकर्मा देव शिल्पी तो आचार्य मय .... हैं।
2. पांडवों की सभा में सभा भवन का निर्माण ....किया था
3. टोडरमल ने अकबर के दरबार में ...... वर्षों तक सेवा कार्य किया
4. रामदैवज्ञ की रचना.......................... है।

2.4 सारांश

पिछली इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि वास्तुशास्त्र का उद्भव जिन प्रवर्तक आचार्यों से हुआ उसके बाद यह परम्परा हम तक कैसे प्राप्त हुयी। तथा इस शास्त्र की आचार्य परम्परा कौन सी है? इस शास्त्र के प्रवर्तक तथा आचार्यों का वर्णन भी आपने पढ़ा। ज्योतिषवेदांग के संहिता स्कन्ध से वास्तु का सम्बन्धहै तथा अष्टाङ्गवास्तु में वास्तु के आठ अङ्गों में ज्योतिष को भी एक अङ्ग माना गया। इसलिए वास्तु' के प्रवर्तक आचार्य और ज्योतिष के प्रवर्तक आचार्यों में कहीं-कहीं साम्यता भी दृष्टिगोचर होती है। मत्स्यपुराण में वास्तु के अष्टादश, अग्निपुराण में पच्चीस और मानसार में बत्तीस आचार्यों का उल्लेख प्राप्त होता है। वास्तुशास्त्र दो परम्पराओं के रूप में विकसित हुआ। एक विश्वकर्मा परम्परा और दसरी मय परम्परा विश्वकर्मा नागर परम्परा के तथा मय द्राविड परम्परा के जनक कहलाए। इन दोनों परम्पराओं में वास्तुशास्त्र के अनेक ग्रन्थों की रचना हुई।

इन ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों का अनुपालन अद्यावधि भव्य भवनों के निर्माण में किया जाता है। इन सभी आचार्यों में आचार्य विश्वकर्मा और मय आचार्य के रूप में स्थान प्राप्त किया है। इन दोनों ने वास्तुशास्त्रके प्रमुख आचार्यों की अपनी-अपनी परम्पराओं का विकास समय के साथ-साथ होता गया। विश्वकर्मा देवशिल्पि और मयाचार्य दानवशिल्पि के रूप में विख्यात हुए। विश्वकर्मा नागर परम्परा के प्रवर्तकाचार्य थे। इन्होने ही ब्रह्मा के सृष्टिकार्य में उनका सहयोग किया। इस प्रकार हम देख पा रहे हैं कि भारतीय संस्कृति साहित्य एवं सभी प्रकार के ज्ञान राशि का स्रोत वैदिक वांग्मय ही है। वास्तु शास्त्र के आचार्यों का महत्व न केवल पौराणिक काल से अभी तक अपितु वैदिक काल से भी दृष्टिगोचर होता है। वैदिक काल से लेकर यज्ञ वास्तु के निर्माण के सिद्धान्तों के साथ ही गृह वास्तु की आवास का महत्व प्रतिपादित होता रहा है, जिसका उन्नत रूप अन्य ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होता है। आचार्यों ने आवास प्राणी मात्र के लिए आवश्यक माना है चाहे वह बुद्धि युक्त मनुष्य मनुष्य प्राणी कोई भी प्राणी चाहे वह स्वयं का आवास बनाने में सक्षम हो अथवा अक्षम, आवास की खोज में रहता है। इन विषयों पर वास्तु शास्त्र की विभिन्न अवधारणाएं चित्रकला, मूर्तिकला, शिल्पकला, प्रासाद इत्यादि के विषयों

को विस्तार से चर्चा किया है।

2.5 शब्दावली

सृष्टिकार्य – सृष्टि निर्माण कार्य

देवशिल्पि – देवताओं के शिल्पि

दानवशिल्पि – राक्षसों के शिल्पि

विदर्भ देश – वर्तमान समय में महाराष्ट्र प्रदेश का हिस्सा

ग्रन्थरत्न – श्रेष्ठ ग्रन्थ

2.6 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न – 1

1. स. नागर परंपरा
2. अ. आचार्य मय
3. अ. दिति
4. अ. अकबर

अभ्यास प्रश्न – 2

1. सत्य
2. असत्य
3. सत्य
4. असत्य

अभ्यास प्रश्न – 3

1. दानव शिल्पी
2. आचार्य मय
3. 30 वर्ष
4. मुहूर्त चिंतामणि

2.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. मयमतम्
2. वास्तु सौख्यम्
3. वास्तु सार
4. विश्वकर्माप्रकाश
5. बृहत्संहिता
6. वास्तुप्रदीप
7. समराङ्गण सूत्रधार
8. मनुष्यालयचन्द्रिका
9. शिल्प रत्न।

इकाई 3 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ (भाग 1)

इकाई की संरचना

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ (भाग 1)
3.3 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों का परिचय
3.4 सारांश
3.5 शब्दावली
3.6 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला
3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ भाग एक नामक इस इकाई के अध्ययन के अनन्तर आप बता सकेंगे कि :

- वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ किनको कहते हैं ?
- वास्तुशास्त्र के प्रचार प्रसार की व्यापकता क्या है ?
- वास्तुशास्त्र का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ ?
- वास्तुशास्त्र का मूल प्रतिपाद्य विषय क्या है ?
- वास्तुशास्त्र के मूल में निहित तत्व और विषय क्या हैं ?
- मानक ग्रंथो की उपयोगिता और महत्ता को समझेंगे।
- वास्तुशास्त्र को और नजदीक से जानने की जिज्ञासा बढ़ेगी।

3.1 प्रस्तावना

भारतीय जीवन दर्शन में मानव जीवन आनन्द तथा शान्ति की प्राप्ति के लिए है। त्रिकालद्रष्टा मुनियों ने जीवन को इहलौकिक और पारलौकिक दो भागो में बांटकर मानव जीवन काल में भौतिक तथा आध्यात्मिक सुख शान्ति के लिए ऋक्, यजु, साम और अथर्व संज्ञक चार वेद बताये हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष छः वेदांग हैं। पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र चार उपांग हैं। उपपुराणों का पुराणों में, वैशेषिक शास्त्र का न्याय में, इतिहास संज्ञक महाभारत और रामायण का सांख्य, पातंजल, पाशुपत और आगमों का अभ्युदय निःश्रेयशपद धर्मशास्त्रों में अन्तर्भाव युक्त है। इस प्रकार चतुर्विध वेद, षडंग, पुराण, न्याय, मीमांसा और धर्मशास्त्र ही चौदह विद्यास्थान हैं।

पुराणन्यायमीमांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिता: ।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश: ॥

परमपिता परमात्मा की अनादि और दिव्य वाणी ही वेद है ऋग्वेद इस सम्पूर्ण सृष्टि की सम उपलब्ध प्राचीनतम ज्ञान राशि है वेद से ही सभी प्रकार के ज्ञान और विज्ञान का उद्गम हुआ है इस सृष्टि के आरंभ से लेकर अध्यापक जितना भी ज्ञानी अभिज्ञान हमें इस सम्पूर्ण संसार के किसी भी भूभाग पर दिखाई देता है उस ज्ञान या विज्ञान के बीज सूक्ष्म रूप से वेदों में प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और अथर्ववेद संज्ञक चार वेद हैं। इन चार वेदों के अपने-अपने उपवेद हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गन्धर्ववेद एवं अथर्ववेद का उपवेद स्थापत्य वेद है।

स्थापत्य वेद ही वास्तुशास्त्र का उद्गम स्थल है यद्यपि चारों ही वेदों में वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित उल्लेख प्राप्त होते हैं, तथापि इसका मूल उद्गम स्थापत्य वेद को ही माना जाता है। क्योंकि स्थापत्य वेदक का साक्षात अथर्ववेद का ही उपवेद है अर्थात वास्तुशास्त्र का मूल सम्बन्ध अथर्ववेद से है इस प्रकार वेद का वास्तुशास्त्र से सीधा सीधा सम्बन्ध है वास्तुशास्त्र का मूल उद्गम स्थल होने के कारण वास्तुशास्त्र के स्वरूप निर्धारण में वेद की प्रमुख भूमिका है वैदिक काल में उद्धृत इस शास्त्र का उत्तर वैदिक काल और पौराणिक काल में पल्लवन हुआ और आज यह स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित है।

वेद न केवल आध्यात्मिक ज्ञान के स्रोत है बल्कि अनेक प्रकार की भौतिक विद्याओं का भी मूल उद्गम स्थल हैं। वेद के ऋषियों ने अपने अंतर्दृष्टि के माध्यम से इस सृष्टि के विविध राशियों का ज्ञान प्राप्त किया तथा वेद के मन्त्रों के माध्यम से उसे ज्ञान का उपदेश अपने शिष्यों को किया। इसी वैदिक ज्ञान के प्रकाश से सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित हुआ और वैदिक ज्ञान की जन्मभूमि भारत को विश्वगुरु होने का गौरव प्राप्त हुआ। विश्व के विभिन्न भागों से अनेकों विद्वान भारत आए तथा भारत की इस ज्ञानसंपदा को जानकर उन्होंने मुक्त कंठ से भारत के विश्वगुरुत्व को स्वीकार भी किया है। वैदिक पृष्ठभूमि पर समस्त विज्ञान में सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण का चिंतन किया ही किया है, उसके साथ-साथ वेदो ने प्रकृति के संरक्षण को भी प्रमुखता दी गई है। मानव के सुख समृद्धि और ऐश्वर्य हेतु प्रकृति के दोहन को सिरे से नकार दिया गया है। क्योकि वैदिक परम्परा कर्म पर आधारित है न कि भोग पर। इस प्रकार वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ नामक इस इकाई को विस्तार से जानने के लिये मानक ग्रन्थों का प्रारम्भ वेदों से ही माना जायेगा।

3.2 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ (भाग-1)

वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ निम्नलिखित हैं –

1. ऋग्वेद
2. स्थापत्य वेद
3. विभिन्न आगम ग्रन्थ
4. अग्निपुराण
5. मत्स्य पुराण

6. स्कन्द पुराण
7. गरुण पुराण
8. विष्णुधर्मोत्तर पुराण
9. मयमतम्
10. विश्वकर्मा प्रकाश

3.3 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों का परिचय

ऋग्वेद

ऋग्वेद इस संसार की सबसे प्राचीन रचना है । ऋक अर्थात् स्थिति और ज्ञान ऋग्वेद सबसे पहला वेद है जो पद्यात्मक है। इसमें सबकुछ है। यह अपने आप में एक सम्पूर्ण वेद है। ऋग्वेद अर्थात् ऐसा ज्ञान, जो ऋचाओं में बद्ध हो। प्राचीनतम मनुष्य के मस्तिष्क तथा धार्मिक और दार्शनिक विषयों का मानव भाषा में सबसे पहला वर्णन ऋग्वेद में मिलता है । चारों वेदों में ऋग्वेद का स्थान मुख्य है ऋग्वेद अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है, तथा इसमें अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक विषयों का सन्निवेश है । यजुर्वेद और सामवेद में याज्ञिक मन्त्रों की प्रधानता है । ऋग्वेद में वैदिक काल की सारी विशेषताओं के पूर्ण वर्णन मिलते है । ऋग्वेद के मन्त्रों में सुन्दर काव्य परंपरा पायी जाती है । वह काव्य जो हिमालय से निकलने वाली गंगा नदी के समान ही पवित्र और नैसर्गिक है। जिसमे कृत्रिमता नही है। तर्क शास्त्र से सुरक्षित तेजस्वी षड्दर्शनों एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को प्राप्त करने के लिये ऋग्वेद की तेजस्वी वाणी अत्यन्त सहायक सिद्ध होती है । वेद ईश्वर की वाणी और ज्ञान के अक्षत भंडार है । वेद मन्त्रों का संकलन बडे सुन्दर और वेज्ञानिक ढंग से किया गया है। एक विषय के कुछ मन्त्रों के समूह को सूक्त कहते है । ऋग्वेद इसी प्रकार के सूक्तों का संग्रह है, ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त देवताओं की स्तुति में लिखे गये है । इसी वेद के सप्तम मंडल के 54 वे सूक्त से वास्तुशास्त्र की उत्पत्ति है इस हेतु से वास्तुशास्त्र का प्रथम मनका ग्रन्थ ऋग्वेद को माना जा सकता है -

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान्प्रति नो जुषस्व ॥

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥

इस प्रकार वास्तुशास्त्र की आधारशिला ऋग्वेद में ही दिखायी देती है ।

स्थापत्य वेद

स्थापत्य वेद को वास्तुशास्त्र उपनिषद् भी कहा जता है यहाँ सूत्र रूप में वास्तुशास्त्र को कहा गया है छः प्रपाठको के माध्यम से वास्तुशास्त्र को निर्दिष्ट किया गया है –

1. प्रथम प्रपाठक में वास्तोष्पति के विषय में बताते हुए आचार्य ने शिल्पो के छह अंग का

विस्तार, रूप, वृत्त, रेखा, स्थापक, शिल्प, प्रतिमा एवं स्थापक विद्या की बातें हैं। शरीर मूर्ति का विशेषण वास्तु के छह अंग एवं छह प्रकार के शरीर का वर्णन है।

2. प्रतिमा के विषय में द्वितीय प्रपाठक क्रिया मर्म, कर्तव्य, संयोग एवं नाभि रूपक कर्म करणध्वज, षटकोण, भूमि खनन प्रकार, उचित रेखा, अग्नि, रूप एवं रेखा ज्ञान का विस्तृत विचार इस प्रपाठक में किया गया है

3. तृतीय प्रपाठक में रुप का मुख्य भाव, न्यासार्थ कालबोध, खनित्र के पंचकर्म, शिल्पकार वरुण मणि रेखा, अनुपात, हर्स अवधि रक्षा विधान की विस्तृत चर्चा की गई है।

4. चतुर्थ प्रपाठक में रूपादि के अंग की बातें की गई हैं दो प्रकार के धातु की बात है, तत्व ज्ञान में कोष्ठक वर्गीकरण की महता, शुल्ब यज्ञ साधन, यूप का मान, षड भाग का प्रयोग, पलाश दंड एवं रज्जू संयोग से रेखा करण, स्थापक आचार्य स्तंभ एवं दशांग यूप की बात की गई है।

5. पंचम प्रपाठक में भाव का रोपण, भाव का आधार, रस, प्रथम रस श्रृंगार मुख्य लक्षण रूद्र आदि पर्यंत भुवन कोष एवं दिशा पाल दिगपाल, दैव भेद मार्ग भेद कहे गए हैं।

6. छठे प्रपाठक में न्यासधारण वृत्तिन्यास अलंकार मुद्रा रूप क्षेत्र षोडश कोष्ठक प्रमाण एवं उनके विभाग अलंकरण कर मुद्रा आसन शुद्धि छह प्रकार के आसन वाहन प्रतिरूप उपदेवता अरिसनधा, रूपधारा स्तोत्र प्रज्ञ की बात की गई है।

कश्यप शिल्पशास्त्र

विभिन्न पृष्ठभूमि पे अलग अलग कालखंड में लिखे गए वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिक काल तक के अनेकानेक वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ इस जनोपयोगी सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते रहे हैं। इनमें प्राचीनता एवं प्रामाणिकता की दृष्टि से महर्षि कश्यप विरचित कश्यप शिल्पशास्त्र सर्वोपरि है। दो भागों में इस ग्रन्थ रत्न को विभक्त किया गया है। भागों के अन्दर पटल हैं। भूमि परिक्षा, दिक्परिक्षेद, प्रासाद वास्तु लक्षण, वास्तु होम विधि प्रत्मेश्त्क विधान, उपपीठ विधान, अधिष्ठान लक्षण विधि नाल प्रतिष्ठा विधि, पदवर्ग, बोधिका लक्षण फलिका लक्षण, विस्कम्भ लक्षण, वेदिका लक्षण जालक लक्षण तोरण लक्षण इस प्रकार पूर्व भाग में कुल 45अध्याय हैं एवं उत्तर भाग में परिवर्विधि अग्निदेव्लक्षण विनायक लक्षण आदि विषयो का विस्तृत समावेश करते हुए आचार्य कश्यप ने चन्डिकेश लक्षण पर्यंत 92अध्यायों को विस्तृत रूप दिया है।

किरणागम

आगमों के स्थापना से ही स्थापत्य की विभिन्न शैलियों के विकास के साथ-साथ वास्तु विद्या एक स्वतन्त्र शास्त्र के रुप में अस्तित्व में आई और वास्तु ग्रंथों की एक समृद्व परंपरा बनी। वास्तुशास्त्र का वर्णन हमारे वेदो में भी मिलता है। अथर्ववेदः के उपवेद स्थापत्य वेद को प्राचीनतम वास्तु-शास्त्र में गणना की जाती है। वेदों को सरल भाषा में समझने के लिए वेद से उपवेद की रचना की गई ,वहीं से अथर्ववेद से हमें स्थापत्य के निर्माण का ज्ञान प्राप्त हुआ। आगमों में किरणागम अत्यन्त प्रामाणिक एवं वास्तु नगद्या का प्रतिनिधित्व करने वाला यह आगम है। इसमें कुल 12 पटलों के माध्यम से वास्तुशास्त्र के विभिन्न विषयों पर मन्थन किया गया है –

1. पशुपटल
2. मायापटल
3. कर्मपटल
4. पतिपटल
5. शक्तिपातपटल
6. दीक्षाकर्म पटल
7. मन्त्र पटल
8. भुवल पटल
9. शिवतत्व पटल
10. तन्त्रावतार पटल
11. मातृकोत्पत्ति पटल
12. यन्त्रावतार पटल

कामिकागम

कामिकागम को तो वास्तु विद्या का प्रतिनिधि ग्रन्थ ही माना जाता है। इसके पचहत्तर अध्यायों में बासठ अध्याय सीधे वास्तु विषयक ही हैं। भूमि- परीक्षण से लेकर गृहप्रवेश तक की विस्तृत चर्चा है इन अध्यायों में है। कामिका आगम कुल पचहत्तर में से साठ अध्याय वास्तुकला और मूर्तिकला के लिए समर्पित करता है, और विषयों के इसके उपचार को शायद ही किसी वास्तुशिल्प ग्रन्थ से आगे बढ़ाया जा सकता है। शिल्पा शास्त्र की तरह, यह प्रारंभिक मामलों के साथ व्यवस्थित रूप से शुरू होता है, जैसे परीक्षण और मिट्टी की तैयारी, साइटों का चयन, माप की योजना और इमारतों के उन्मुखीकरण के लिये उचित भवनों का वर्णन बीस प्रकारों के अन्तर्गत किया गया है।

जिस प्रकार मत्स्य और भविष्य पुराणों के साथ-साथ बृहत संहिता में भी। लेकिन पुराणों के विपरीत, कामिका आगम में, कुछ बहुत ही तकनीकी वर्गीकरणों के तहत स्थापत्य मामलों पर चर्चा होती है, जैसे नागर, द्रविड़ और वेसर शैली, पुल्लिंग, स्त्री और नपुंसक प्रकार, शुद्ध, मिश्रित और परस्पर, क्रमशः एक पर निर्भर करते हुए सामग्री, दो सामग्रियों का मिश्रण, और कई सामग्रियों का समामेलन, संचिता, आसनचिता, और अपसंचित, जिसे अन्यथा स्थानक, आसन और सायना के रूप में जाना जाता है, जो मंदिरों के मामले में, विग्रह या मूर्तियों के खड़े होने, बैठने और बैठने की मुद्राओं पर निर्भर करते हैं। अयादी सूत्र संदर्भित अन्य बहुत ही तकनीकी मामले हैं, इसलिए सही अनुपात का चयन करने में बहुत महत्वपूर्ण है।

कारणागम

कारणागम के छः अध्यायों में वास्तु प्रकरण की चर्चा है, इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कारणागम भी 'वास्तु' शीर्षक के तहत वास्तुकला और मूर्तिकला के लिए बहुत अधिक स्थान देता है। इस आगम में 37 अध्याय हैं, जिनमें इन विषयों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इन वास्तुशास्त्रीय विषयों का वर्णन मिलता है –

1. वास्तुविन्यास विधि

2. आद्यकाविधि
3. अधिष्ठान विधि
4. गर्भन्यास विधि
5. प्रासादलक्षण विधि
6. प्राकारलक्षण विधि इत्यादि।

इसके बाद छठे अध्याय में लिंगलक्षण विधि और प्रतिमालक्षण विधि आदिमूर्ति रचना सम्बन्धी विषयों का उल्लेख हुआ है। इसमें नृत्त मूर्ति, दक्षिणामूर्ति, चंद्रशेखर, अर्धनारी, कालनिग्रह, पुरारी, चंडेश, गौरी, दुर्गा, लक्ष्मी तथा मोहिनी आदि का भी उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त यह शिल्पा शास्त्रों में आगम के योगदान के लिए एक विशिष्ट अतिरिक्त है। यह नौ और दस ताल उपायों के विवरण से समाधान वाले दो मूल्यवान अध्यायों का योगदान देता है। यह भी मूर्तिकला से सम्बन्धित एक तकनीकी ग्रन्थ है। अगमों में मानसार के साथ घनिष्ठ समानता विषय वस्तु की दृष्टि से दिखता है।

सुप्रभेदागम

सुप्रभादगमा ने वास्तुकला और मूर्तिकला के लिए 15 से अधिक अध्याय समर्पित किए हैं। इसकी अनूठी प्रकृति इस तथ्य में निहित है कि इसने सभी महत्वपूर्ण विषयों को तुलनात्मक रूप से सूत्र एवं संकेत रूप में कम स्थान में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। और सभी विषयों को स्पष्ट और सटीक रूप से समझाया है। इस प्रकार वास्तु विद्या के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ इसको माना जा सकता है। इसमें पन्द्रह अध्याय वास्तु विषयक हैं।

वैखानस आगम

वैखानस आगम में मूर्तिकला पर दो अध्याय हैं, जिनमें से एक छवियों के सामान्य विवरण से सम्बन्धित है और दूसरा दास (दस) ताल उपायों से सम्बन्धित है। दस ताल उपायों पर अम्सुमदभेदागम में एक ही अध्याय है। मुख्य रुप से वास्तु विषय पर ही आधारित है। यानी वास्तुशास्त्रीय निर्माण का ज्ञान यही से प्राप्त हुआ। शेष विषय अन्य आगमों से भी प्राप्त किए जा सकते हैं। इस प्रकार वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ के रूप में वैखानस आगम की भी महत्ता सिद्ध होती है।

इस प्रकार विभिन्न आगमों को पढ़ने से यह स्पष्ट होता है कि आगम के ऋषियों के समय उनके लिए वास्तुशास्त्र का सर्वांगीण विकास हो चुका था। 6 वीं और 12 वीं शताब्दी ईस्वी के बीच, विग्रह या मूर्ति आराधना (मंदिरों में छवियों की पूजा) के हिस्से के रूप में कई आगम ग्रंथों को संकलित किया गया था। ये सभी मंदिरों और सहायक संरचनाओं के निर्माण का विवरण देते हैं।

अग्निपुराण

इस महापुराण को ज्ञान का विश्वकोश कहा जा सकता है। अग्नि पुराण वास्तुविद्या का ऐसा मानक ग्रन्थ है, जिसे ज्ञान का भण्डार कहा जाता है। इसे स्वयं अग्नि देवता ने महर्षि वसिष्ठ को सुनाया है। इसमें सभी विद्याओं का वर्णन है। आकार में छोटा होने पर भी इसमें 383 अध्याय हैं। इस पुराण में 'गीता', 'रामायण', महाभारत' और 'हरिवंश पुराण' का विशेष रूप से

परिचय है। इसमें परा-अपरा विद्याओं का वर्णन है। मत्स्य, कूर्म आदि अवतारों की कथाएं भी हैं। इसमें श्रृष्टि वर्णन, संध्या, स्नान, पूजा विधि, होम विधि, मुद्राओं के लक्षण, दीक्षा और अभिषेक, देवालय निर्माण कला, शिलान्यास विधि, देव प्रतिमाओं के लक्षण, विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा, वास्तु पूजा, खगोल शास्त्र, ज्योतिष आदि अनेक विद्याओं का वर्णन है। वास्तु के विभिन्न विषयों जैसे ज्योतिष ,वास्तु, तंत्र व्याकरण को समाविष्ट किए हुए अग्नि पुराण अपने आप में वास्तुशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ में मान्यता प्राप्त है। भूमि चयन ,भूमि परीक्षण ,प्रतिमा निर्माण,अभिषेक-विधि से लेकर द्वार-स्थापन, नगर-वास्तु है, तथा वास्तु मण्डल चक्र की चर्चा आदि विषयों को इसमें समाविष्ट किया गया है।

इस पुराण में वास्तु विद्या का बड़ा ही विस्तृत विवेचन है जैसा कि अन्य पुराणों में अप्राप्य है। इस पुराण में वास्तुशास्त्र पर सोलह (42, 43, 44, 45, 46, 50, 51, 52, 53, 54, 55, 60, 62, 104 तथा 106) अध्यायों में वास्तु विद्या के प्रायः सभी विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस पुराण में प्रधानता पाषाणकला (मूर्ति निर्माण) की है, वास्तु कला पर केवल तीन अध्याय तथा मूर्ति निर्माण कला पर तेरह है। अग्निपुराण का पुर निवेश (अध्याय 106) वास्तु शास्त्रीय एक विशिष्ट देन है। इसी प्रकार से अन्य पुराणों में भी वा० वि० की प्रचुर सामग्री मरी है, जिसका स्थानाभाव से विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता है। संक्षेपत पुराणों की वास्तु विद्या की निम्न रूपरेखा अलित की जा सकती है जो पूर्ण विकसित कही जा सकती है। इस पुराण को भारतीय जीवन का विश्वकोश कहा जा सकता है। इसमें शरीर और आत्मा के स्वरूप को अलग-अलग समझाया गया है।

अग्नि पुराण में भूगोल सम्बन्धी ज्ञान, व्रत-उपवास, तीर्थों का ज्ञान, दान-दक्षिणा आदि का महत्त्व बताते हुए वास्तुशास्त्र और ज्योतिष आदि का भी वर्णन किया गया है। अग्नि पुराण में स्वप्न विचार और शकुन-अपशकुन पर भी विचार किया गया है। पुरुष और स्त्री के लक्षणों की चर्चा भी इस पुराण का बहुत महत्वपूर्ण अंग है।

मत्स्य पुराण

इस पुराण में वास्तुविद्या पर लगभग आठ अध्याय हैं। 252 वें अध्याय में वास्तु-विद्या के प्रसिद्ध प्राचीन अठारह वाचार्यों पर प्रकाश डाला गया है। पुराणों में विशेषकर जिन-जिन महापुराणों मे वास्तुशास्त्र के विवरण मिलते है उनमें यह पुराण प्रमुख है। मत्स्य के अनुसार भवन निर्माण का प्रारंभ स्तंभ रचना से प्रारंभ होना चाहिये। स्तभ सम्पूर्ण भवन की योजना एवं रचना का आधार है। स्तंभो को पांच प्रकार के वर्गो में वर्गीकृत किया गया है –

1. रूचक
2. वज्र
3. द्विवज्र
4. प्रलीनक
5. वृत्त।

इस वर्गीकरण का आधार वास्तु सौंदर्य एवं उपयोगिता है। मत्स्यपुराण में अनेक विषयों का समावेश है। करीब आठ अध्याय विशेष कर वास्तु विषयक ही हैं। मत्स्य पुराण में स्तम्भ निर्माण के बारे में वर्णन है,जो कि किसी भी भवन का मूलाधार होता है। इस ग्रन्थ में अनेक

प्रकार के स्तम्भ निर्माण की कला बतलायी गयी है। पीठिका लक्षण, लिंग मान लक्षण मूर्ति-निर्माण का विशद वर्णन भूमि का चयन और परीक्षण,तथा भवन के विभिन्न शालभेदों-जैसे की एकशाल, चत्तुश्शाल का भी वर्णॅन है।नवताल-लक्षण 258 वें, पीठिका लक्षण 262 वें, लिङ्ग-लक्षण 263वें इन तीनों अध्यायों में प्रस्तर - कला तथा मूर्ति निर्माण परक विवेचन है। प्रासाद वर्णन 266, मण्डप लक्षण 270 इन दो अध्यायों में प्रासाद- वास्तु के विवरण मिलते हैं जो आगे 'प्रासाद' पटल में द्रष्टव्य होते हैं।

मत्स्य पुराण में भगवान श्रीहरि के मत्स्य अवतार की मुख्य कथा के साथ अनेक तीर्थ, व्रत, यज्ञ, दान आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें वास्तुशास्त्र के मुख्य विषय के सहित जल प्रलय, मत्स्य व मनु के संवाद, राजधर्म, तीर्थयात्रा, दान महात्म्य, प्रयाग महात्म्य, काशी महात्म्य, नर्मदा महात्म्य, मूर्ति निर्माण माहात्म्य एवं त्रिदेवों की महिमा आदि पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है। यह पुराण चौदह हजार श्लोकों से युत है।

इस पुराण में सात कल्पों का कथन है, नृसिंह वर्णन से शुरु होकर यह चौदह हजार श्लोकों का पुराण है। मनु और मत्स्य के संवाद से शुरु होकर ब्रह्माण्ड का वर्णन ब्रह्मा देवता और असुरों का जन्म होना, मरुद्गणों का प्रादुर्भाव इसके बाद राजा पृथु के राज्य का वर्णन वैवस्त मनु की उत्पत्ति व्रत और उपवासों के साथ मार्तण्डशयन व्रत द्वीप और लोकों का वर्णन देव मन्दिर निर्माण प्रासाद निर्माण आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त कृष्णाष्टमी, गौरितृतीया, अक्षयतृतीया,सरस्वती, भीमद्वादशी आदि व्रत, प्रयाग, नर्मदा, कैलास वर्णन, राजधर्म, शकुनशास्त्र, शिल्पशास्त्र, प्रतिमानिर्माण, प्रतिष्ठापन विधि, पुरुषार्थ, गृहनिर्माण, प्रकृति वर्णन, ययाति चरित्र, देवयानी कथानक, सावित्री-उपाख्यान, नरसिंहावतार, चन्द्रवंश, सूर्यवंश, यदुवंश, कुरुवंश,आंध्रप्रदेश के राजाओं का विवरण युग, कल्प आदि का विवरण विस्तार से मिलता है।

गरुड़ पुराण

इस पुराण की वास्तु-विद्या के चार अध्यायों में से दो अध्यायों मे (46-47), सभी प्रकार के भवनों (मानव एवं दैव) तथा दुर्ग-निवेश एवं पुर निवेश पर बड़ा ही सुन्दर विवेचन मिलता है। गरुड़पुराण की अपनी विशेषता है - पुर निवेश तथा उद्यान भवन (गार्डेन सिटीज) । साथ ही परम्परा के अनुरूप प्रासाद एवं प्रतिमा (45 तथा 48) पर भी सुन्दर विवेचन है। इस पुराण को 'मुख्य गारुड़ी विद्या' भी कहा गया है। इस पुराण का ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्माजी ने महर्षि वेद व्यास को प्रदान किया था। तत्पश्चात् व्यासजी ने अपने शिष्य सूतजी को तथा सूतजी ने नैमिषारण्य में शौनकादि ऋषि-मुनियों को प्रदान किया था। गरुड़ पुराण अग्नि पुराण के समान ही गरुड़ पुराण में अनेक विषयों का समावेश है ।इसमें सभी प्रकार के न्यास पर प्रकाश डाला गया है। इस पुराण की विशेषता यह भी है कि पुरनिवेश के साथ ही उद्यान-निवेश की भी चर्चा इस ग्रन्थ में है। एकाशीति पद,तथा चतुष्षष्टि-पद वास्तु-चक्र और उनके देवता का स्थापन के साथ-साथ प्रतिमा-निर्माण पर भी प्रकाश डाला गया है।

इसमें 18 अध्याय हैं एवं उन्नीस हजार श्लोक हैं परन्तु वर्त्तमान में सात हजार श्लोक ही उपलब्ध हैं। इस पुराण में सबसे पहले सृष्टि का वर्णन है। इसके बाद सूर्य आदि की पूजा, पूजा की विधि, दीक्षा विधि, श्राद्ध पूजा नवव्यूह की पूजा विधि, वैष्णव-पंजर, योगाध्याय, विष्णुसहस्रनाम कीर्तन, विष्णु ध्यान, सूर्य पूजा, मृत्युंजय पूजा, माला मन्त्र, शिवार्चा गोपालपूजा, त्रैलोक्यमोहन, श्रीधर पूजा, विष्णु-अर्चा पंचतत्व-अर्चा, चक्रार्चा, देवपूजा, न्यास आदि संध्या उपासना

दुर्गार्चन, सुरार्चन, महेश्वर पूजा, पवित्रोपण पूजन, मूर्ति-ध्यान, वास्तुमान प्रासाद लक्षण, सर्वदेव-प्रतिष्ठा पृथक-पूजा-विधि, अष्टांगयोग, दानधर्म, प्रायश्चित-विधि, द्वीपेश्वरों और नरकों का वर्णन, सूर्यव्यूह, ज्योतिष, सामुद्रिकशास्त्र, स्वरज्ञान, नूतन-रत्न-परीक्षा, तीर्थ-महात्म्य, गयाधाम का महात्म्य, मन्वन्तर वर्णन, पितरों का उपाख्यान, वर्णधर्म, द्रव्यशुद्धि समर्पण, श्राद्धकर्म, विनायकपूजा, ग्रहयज्ञ आश्रम, जननाशौच, प्रेतशुद्धि, नीतिशास्त्र, व्रतकथायें, सूर्यवंश, सोमवंश, श्रीहरि-अवतार-कथा, रामायण, हरिवंश, भारताख्यान, आयुर्वेदनिदान चिकित्सा द्रव्यगुण निरूपण, रोगनाशाक विष्णुकवच, गरुणकवच, त्रैपुर-मंत्र, प्रश्नचूणामणि, अश्वायुर्वेदकीर्तन, औषधियों के नाम का कीर्तन, व्याकरण का ऊहापोह, छन्दशास्त्र, सदाचार, स्नानविधि, तर्पण, बलिवैश्वदेव, संध्या, पार्णवकर्म, नित्यश्राद्ध, सपिण्डन, धर्मसार, पापों का प्रायश्चित, प्रतिसंक्रम, युगधर्म, कर्मफ़ल योगशास्त्र विष्णुभक्ति श्रीहरि को नमस्कार करने का फ़ल, विष्णुमहिमा, नृसिंहस्तोत्र, विष्णवर्चनस्तोत्र, वेदान्त और सांख्य का सिद्धान्त, ब्रह्मज्ञान, आत्मानन्द, गीतासार आदि का वर्णन है।

स्कन्दपुराण

इस पुराण के माहेश्वर-खण्ड (द्वितीय भाग) तथा वैष्णवखण्ड (द्वितीय भाग) में वास्तु - विद्या के वर्णन प्राप्त होते है। मत्स्य पुराण के बाद स्कन्द पुराण ही सर्वाधिक प्राचीन है। इस महापुराण में महानगर-स्थापन, स्वर्णशाला, रधनिर्माण, स्थपति निर्देश, विवाह मण्डप, चित्र-कर्म आदि ये जो विवरण मिलते हैं, उनमें वास्तु - विद्या के व्यापक विस्तार पर प्रकाश पड़ता है। वास्तु-कर्म, शिल्प-कर्म का पर्याय होगया है अन्यथा रथ-निर्माण आदि तक कला से सम्बन्धित कर्म, वास्तुकला (भवन निर्माण कृता) में कैसे संचालित होते। प्राचीन परम्परा में वास्तु कला एवं पापाण- कला (मूर्ति निर्माण कला का) घनिष्ठ सम्बन्ध है, परन्तु चित्रकला के साथ सम्बन्ध यहीं पर सर्वप्रथम देखने को मिला। इस प्रकार विभिन्न विषयों के विस्तृत विवेचन की दृष्टि से स्कन्दपुराण सबसे बड़ा पुराण है। इसमें श्लोकों की संख्या 81000 है। भगवान स्कन्द (कार्तिकेय) के द्वारा कथित होने के कारण इसका नाम 'स्कन्दपुराण' है। इसमें बद्रिकाश्रम, अयोध्या, जगन्नाथपुरी, रामेश्वर, कन्याकुमारी, प्रभास, द्वारका, काशी, शाकम्भरी, कांची आदि तीर्थों की महिमा; गंगा, नर्मदा, यमुना, सरस्वती आदि नदियों के उद्गम की मनोरथ कथाएँ; रामायण, भागवतादि ग्रन्थों का माहात्म्य, विभिन्न महीनों के व्रत-पर्व का माहात्म्य तथा शिवरात्रि, सत्यनारायण आदि व्रत-कथाएँ अत्यन्त रोचक शैली में प्रस्तुत की गयी हैं। विचित्र कथाओं के माध्यम से भौगोलिक ज्ञान तथा प्राचीन इतिहास की ललित प्रस्तुति इस पुराण की अपनी विशेषता है।

इसमें लौकिक और पारलौकिक ज्ञान के अनन्त उपदेश भरे हैं। इसमें धर्म, सदाचार, योग, ज्ञान तथा भक्ति के सुन्दर विवेचन के साथ अनेकों साधु-महात्माओं के सुन्दर चरित्र पिरोये गये हैं। यह खण्डात्मक और संहितात्मक दो स्वरूपों में उपलब्ध है। दोनों स्वरूपों में 81-82 हजार श्लोक परम्परागत रूप से माने गये हैं। खण्डात्मक स्कन्द पुराण में क्रमशः –

1. माहेश्वर
2. वैष्णव
3. ब्राह्म
4. काशी

5. अवन्ती (ताप्ती और रेवाखण्ड)

6. नागर खण्ड

7. प्रभास खण्ड ये सात खण्ड हैं।

संहितात्मक स्कन्दपुराण में –

1. सनत्कुमारसंहिता

2. शंकरसंहिता

3. ब्राह्मसंहिता

4. सौरसंहिता

5. वैष्णवसंहिता

6. सूतसंहिता

ये छः संहिताएँ हैं।

भविष्य पुराण

भविष्य पुराण में कुल एक सौ उनतीस अध्याय तथा अट्ठाईस हजार श्लोक हैं जिनमें तीन अध्यायों में वास्तुशास्त्रीय विषयों का विशद वर्णन है। शेष अध्यायों में भी वर्णन है, परन्तु तीन अध्याय वास्तुशास्त्र को समर्पित हैं। इस पुराण में सूर्या देव का महत्त्व बारह महीनो का निर्माण एवं शिल्प मूर्ती चित्र आदि कला के वास्तुशास्त्रीय विषयो का समावेश किया गया है।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण

विष्णुधर्मोत्तर पुराण एक उपपुराण है। यह विष्णुपुराण का परिशिष्ट माना जाता है। इस पुराण में कथाओं के अतिरिक्त ब्रह्माण्ड के रहस्य, भूगोल, खगोलशास्त्र, ज्योतिष, वास्तुशास्त्र, काल-विभाजन, कुपित ग्रहों एवं नक्षत्रों का शान्ति विधान, तपस्या, वैष्णवों के कर्तव्य, कानून एवं राजनीति, युद्धनीति, मानव एवं पशुओं के रोगों की चिकित्सा, खानपान, व्याकरण, छन्द, शब्दकोश, भाषणकला, नाटक, नृत्य, संगीत और अनेकानेक कलाओं की चर्चा की गयी है। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के 'चित्रसूत्र' नामक अध्याय में वास्तुशास्त्र के कलाओ में मूर्तिकला एवं चित्रकला का महत्त्व इन शब्दों में बताया गया है -

> कलानां प्रवरं चित्रम् धर्मार्थ काम मोक्षादम्।
> मांगल्य प्रथमं दोतद् गृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ॥

अर्थात् कलाओं में चित्रकला सबसे ऊँची है जिसमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। अतः जिस घर में चित्रों की प्रतिष्ठा अधिक रहती है, वहाँ सदा मंगल की उपस्थिति मानी गई है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण को स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला का कोष ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस पुराण के 43 अध्यायों में वास्तु कला, मूर्ति कला और चित्र कला का वर्णन हुआ है। इस पुराण में मानव गृहों एवं देव गृहों की रचना का निरुपण पृथक्-पृथक् है। इसमें छ: प्रकार के दुर्गो, उनके चारों ओर बनायी जाने वाली परिखा, देवालय, राज प्रसाद, राज मार्ग, विभिन्न वणिकों और व्यवसाय जीवियों के बाजार तथा भवनों का वर्णन किया गया हैं। विष्णुधर्मोत्तरपुराण के 29 वें अध्याय में गृह निर्माण हेतु उपयुक्त भूमि का चयन, पुष्प, दीपक और जल के द्वारा उसकी परीक्षा, पुरभूमि का चतुष्षष्ठि (चौसठ) भागों में विभाजन उसके

विभिन्न भागों को विभिन्न देवों को समर्पित करना, गृह भूमि का विभाजन और भवनों के विभिन्न भागों का विभाजन इत्यादि वास्तु कला विषयक तथ्यों का वर्णन है । विष्णुधर्मोत्तरपुराण के 30 वें अध्याय में वृक्षो के रोपण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है, जिसमें गृह पति को गृह के वाम भाग में उद्यान रचना करने का निर्देश दिया गया है। इससे स्पष्ट दिखता है कि वास्तुशास्त्र पर्यावरण का भी प्राचीन काल से ही हितैषी है।

विश्वकर्माप्रकाश

वास्तुशास्त्र का प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ की उपाधि विश्वकर्मा प्रकाश को प्राप्त है । देवशिल्पी विश्वकर्मा कृत विश्वकर्माप्रकाश वास्तुशास्त्र का अप्रतिम एवं प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं । जिसमें 14 अध्यायों में सम्पूर्ण वास्तुशास्त्र का उत्तम वर्णन किया गया हैं। अध्यायों के वर्ण्य विषय संक्षेप में इस प्रकार हैं –

1. भूम्यादिलक्षणाध्याय – इस अध्याय में वास्तुशास्त्र की उत्पत्ति वास्तुपुरुष का वर्णन परम्परा,भूमि परीक्षण के विविध प्रकार की विधियाँ, वास्तु के लिए विभिन्न प्रकार के भूमि आदि का विस्तार से वर्णन है।

2. सामगृहादि निर्माण अध्याय - इस अध्याय में स्वपन विधि, स्वप्न के पूर्व प्रकार, भूमि के विभिन्न ढलान का विचार, चंद्रमा की अनुकूलता, गोचर में ग्रहों का विचार, गृह एवं गृह स्वामी के मेलापक की विधियां, आयादि विचार, 16 प्रकार के गृह निर्माण की दिशा, गृह में आलिंद का स्थान, गृह की लंबाई तथा ऊंचाई इत्यादि का वर्णन एवं वीथिका इत्यादि सेनापति, मंत्री, सचिव के गृहों का प्रमाण, रानियां, युवराज के गृहों का प्रमाण सामंत अधिकारी आदि के विषय में सर्वतोभद्र वास्तु के लक्षण इत्यादि बतलाए गए हैं।

3. गृहवास्तु कालनिर्णय अध्याय - इस अध्याय में गृहारंभ मुहूर्त के कथन से लेकर गृह आरंभ में वृष वास्तु चक्र, जलाशय आदि विचार, लक्ष्मी विनाशक योग एवं अग्निदाह योग एवं पुत्रदाह योग गृहारंभ कुंडली के लग्न से लेकर 12 भाव तक के स्थित ग्रहों के संक्षिप्त फल का विवेचन किया गया है।

4. गृहादि निर्माण अध्याय - गृह के उत्तम आदि भेद कथन, राजा, सेनापति पुरोहित एवं युवराज के शैया का मान, 14 प्रकार के गृह, में काल शुद्धि की अपेक्षा, गृह प्रवेश का संक्षिप्त परिचय, अंगुल प्रमाण का स्पष्टीकरण, हस्तादि माप, हाथ से मापने योग्य वस्तुएं, हस्तादि अंगुल प्रमाण, चारों वर्णों के लिए शिला का वर्णन, आधारशिला के विशेष लक्षण का कथन, द्वारपाल आदि की पूजा का विधान है।

5. शिलान्यास अध्याय – इस अध्याय में 64 पद के वास्तु में देवताओं की स्थिति, गृह वास्तु चक्र शंकु रोपण, 81 पद वास्तु के निर्माण की विधि शल्य ज्ञान का प्रकार, शल्य ज्ञान की विधियां, कलश स्थापन एवं पूजन विधि, नवग्रह का निर्देश, 45 देव का पूजन, बलिदान विधि, भूतादि बली, ब्रह्म स्थली का पूजन, पंचदेव तथा पंच तत्वों का आवाहन, स्थपति तथा अन्य आचार्य ब्राह्मण को दान की विधि आदि वर्णित हैं।

6. प्रसाद निर्माण अध्याय - देवालय निर्माण योग्य भूमि, वास्तु बली तथा प्रसाद के विभिन्न विषयों की गणना, शिलान्यास विधि प्रसाद के अवयवों का माप आदि का वर्णन है।

7. द्वारनिर्माण अध्याय – इस अध्याय में द्वार विन्यास के पंचदश पक्ष, सूर्य नक्षत्र - चंद्र नक्षत्र से द्वार चक्र की स्थिति, द्वार निर्माण में मुहूर्त, द्वार शाखा में तिथि आदि का विचार, गृह के

मध्य में द्वार का निषेध, द्वार वेध के अपवाद द्वार निर्माण में 64 पदों के विचार का निर्देश द्वार के विभिन्न दोष ब्रह्म स्थान की रक्षा, द्वार के विभिन्न देशों का निराकरण द्वार अर्चन की विधि का फल इत्यादि का वर्णन है।

8. जलाशय करणम् – इस अध्याय में विचारणीय विषय आकार जलाशय के आरंभ का मुहूर्त, जलीय भूमि के विषय में विविध बातें, दिग भागों में जलाशय का फल, जलाशय निर्माण की लग्न के दोष, जलाशय प्रतिष्ठा, जलाशय प्रतिष्ठा का मुहूर्त, जलाशय प्रतिष्ठा का फल जलाशय की दिशाएं एवं उनके फल का विशद वर्णन है।

9. वृक्षछेदन अध्याय - चारों वर्णों के लिए शुभ वृक्षों का कथन, मुहूर्त विचार शिवलिंग प्रतिमा एवं इंद्र ध्वज निर्माण में त्याज्य समय, वृक्ष पूजा, विभिन्न दिशाओं में कटे हुए वृक्ष गिरने का फल, वास्तु के दोष एवं दोषों के फल का निराकरण, वास्तु की परीक्षा वास्तु द्वारा शकुन अपशकुन का ज्ञान।

10. नव गृहप्रवेश अध्याय – इस अध्याय में विस्तार से गृह प्रवेश मुहूर्त, गृह मूल में बलिदान, वृक्षों के लिए बलि, नूतन गृह प्रवेश विचार, शत्रु विनाशक योग, भार्या नाशक योग, गृह प्रवेश में वामार्क विचार, गृह प्रवेश की विभिन्न स्थितियां, शैयादि के अंगुल आदि माप का कथन, बंधु वर्गादि को भोजन तथा अंतःपुर प्रवेश की प्रक्रिया है।

11. दुर्ग निर्माण अध्याय – इस अध्याय में कोट निर्माण विद्या का मुहूर्त, महत्व, दुर्ग निर्माण हेतु उपयुक्त स्थल, 10 प्रकार के भय प्रद दुर्ग, प्रत्येक दुर्ग के भय का कथन, दुर्ग हेतु वास्तु पूजन, कोट निर्माण सम्बन्धी निर्देश, पूर्व का निर्माण उत्पाद आदि शान्ति विधि में 8 कलशों की स्थापना, शान्ति कर्मों में वास्तु पूजा,विविध शान्ति विधान, मृत्युंजय मंत्र दुष्ट नक्षत्रेश ग्रह के लिए बलिदान दुर्ग मध्य में कील रोपण आदि की चर्चा है।

12. शल्य निर्णय अध्याय - गृह आरंभ में शल्य ज्ञान का प्रयोजन, छः गुणसूत्र से भूमि का शोधन, शल्य ज्ञान की विधियां, नव कुंभ में पूजन की विधियां, नंदा-भद्रा-जया-रिक्ता-पूर्णा शिला की पूजन, ताम्र कुंभ का निषेध, पृथ्वी पूजन कर्म इस अध्याय के प्रमुख विषय हैं।

13. राजभवनवेध निर्णय अध्याय - सभी प्रकार के गृहों के अंधादि वेधों का कथन, कुट्टक तथा सुप्त के लक्षण, सोलह अधम गृहों के फल, गृह में पाषाण का फल, गृह के विस्तार आदि शुभत्व कोण वेध दृष्टि वेध के फल गृह निर्माण सम्बन्धी विशेष नियम बताये गये हैं ।

14. द्विजाति वेध अध्याय - द्विजातियों के लिए विशेष वेधों का कथन ग्राम में संकर जातियों का नगर के कोने में निवास, गृह से चारों ओर खाली भूमि छोड़ना, नगर निर्माण में वेध आदि का विचार, विषम गृह में वेध का अभाव, अस्वत्थादि गृहों के वेद वेध के परिहार वेध के फल गृह के समीप शुभ वृक्ष गृह एवं नगर के चारों ओर पताका, गांव का ध्वज दक्षिणी द्वार में स्तंभ स्थान, एवं अन्तिम में वास्तुशास्त्र की परंपरा का वर्णन प्राप्त होता है।

इस प्रकार हम देख पा रहे हैं कि विश्वकर्मा जी द्वारा रचित इस वास्तुशास्त्र में 14 अध्यायो में लगभग 1374 श्लोक हैं। इसमें भूमि लक्षण, गृह मुहूर्त, वास्तु पद विन्यास, प्रसाद विधान, द्वार विधान, द्वार निर्माण, शल्य झान, शल्य को दोष को दूर करने की विधी का वर्णन हमें मिलता है। विश्वकर्म प्रकाश के अध्ययन गृहादि विचार में हमे आयादी सूत्रों के बारे में जानकारी मिलती

है।

ग्रन्थ के अन्त में दी गयी परम्परा के अनुसार वास्तुशास्त्र का उपदेश गर्ग ने पराशर को, पराशर ने बृहद्रथ को तथा बृहद्रथ ने विश्वकर्मा को दिया था। यथा –

इति प्रोक्तं वास्तुशास्त्रं पूर्वं गर्गाय धीमते।
गर्गात्पराशरः प्राप्तः तस्मात्प्राप्तो बृहद्रथः।
बृहद्रथात् विश्वकर्मा प्राप्तवान् वास्तुशास्त्रकम्।
स विश्वकर्मा जगती हिताय कथयत् पुनः।।
वासुदेवादिषु पुनर्भूलोके भक्तितोऽब्रवीत।।

इस ग्रन्थ में भूम्यादिलक्षण, समगृहादि निर्माण, गृहवास्तुकलानिर्णय, गृहादिनिर्माणभेद, शिलान्यास पद्धति, प्रासादनिर्माण विधि, जलाशयकरणम्, वृक्षच्छेदन विधि, नवगृहप्रवेश, दुर्गनिर्माण एवं भेद, शल्य निर्णय, राजभवनवेधनिर्णय, द्विजातिवेध आदि विषयों का विस्तृत विवेचन हैं।

मयमतम्

दानवराज मयासुर द्वारा रचित 'मयमत' दक्षिण भारतीय वास्तु-परम्परा अथवा द्रविड रीति का मानक ग्रन्थ है। 'मयमत' ग्रन्थ में वास्तु के स्थान पर 'वस्तु' पद का प्रयोग किया तथा 'वास्तुशास्त्र' के स्थान पर सभी जगह 'वास्तुशास्त्र' का प्रयोग किया है। मय के अनुसार वस्तु ही मूल है तथा वस्तु से उत्पन्न पदार्थ 'वास्तु' है। इन्होंने पृथिवी को प्रथम वस्तु माना है। इसके अतिरिक्त प्रासाद, यान एवं शयन भी वास्तु की श्रेणी में परिगणित हैं। मयमतम् नामक ग्रन्थ वास्तुशास्त्र का अन्यतम ग्रन्थ है, जिसमें 36 अध्याय हैं। मानसार के सामान इसमें भूमि चयन, भूमि परीक्षण, नीव भरने की विधि, नगर ग्राम की रचना, भवन बनाने की विधि का वर्णन है। इस ग्रन्थ में वास्तु के प्रमुख विषय भूमि चयन, परीक्षण, गर्भ विन्यास, प्रतिमा लक्षण तथा जीर्णोद्धार आदि प्रमुख विषयों का वर्णन किया गया हैं। इसमें वास्तु की व्याख्या में अमर्त्य और मर्त्य के निवास स्थान को वस्तु अथवा वास्तु की संज्ञा दी गई है। मयमतम् में प्रति पादित विषयों के आधार पर इसे तीन खण्डों में विभाजित किया जा सकता है, जिसके प्रथम खण्ड (अध्याय 1 – 10) में गृह - भूमि –विषयक वर्णन तथा द्वितीय खण्ड (अध्याय 11 – 30) में भवन निर्माण से सम्बन्धित व्याख्या एवं तृतीय खण्ड (अध्याय 31 – 36) में चतुर्विध वास्तु की चर्चा के साथ- साथ प्रतिमा -विज्ञान का भी वर्णन है।

इसका प्रथम अध्याय संग्रहाध्याय, दूसरा वस्तुप्रकार, तीसरा भूपरीक्षा, चौथा भूपरिग्रह, पाचवाँ मानोपकरण, छठा दिक्परिच्छेद, सातवाँ पदविन्यास, आठवाँ बलिकर्म, नवाँ ग्रामविन्यास, दसवाँ नगरविधान, ग्यारहवाँ भूलम्बविधान, बारहवाँ गर्भविन्यास, तेरहवाँ उपपीठ-विधान, चौदहवाँ अधिष्ठानविधान, पन्द्रहवाँ पादप्रमाण-द्रव्यपरिग्रहविधान, अट्ठाहरवाँ प्रासादोर्ध्ववर्ग, उन्तीसवाँ एक भूमि विधान तथा बीसवाँ द्विभूमिविधान है। इसके पश्चात् क्रमशः त्रिभूमिविधान, चतुर्भूम्यादि बहुभूमिविधान, प्राकारपरिवार-विधान, गोपुरविधान, मण्डपसभाविधान, शालाविधान, चतुर्गृहविधान, गृहप्रवेश, राजवेश्मविधान, द्वारविधान, यानाधिकार, शयनासनाधिकार, लिङ्गलक्षण, पीठ-लक्षण, अनुकर्म विधान तथा प्रतिमा-लक्षण संज्ञक

अध्याय हैं। ग्रन्थ के अन्त में कूपारम्भ संज्ञक परिशिष्ट प्राप्त होता है। इस प्रकार विषयवस्तु की दृष्टि से मयमत ग्रन्थ में प्रथम 'वस्तु' (अथवा वास्तु) भूमि है। तदनन्तर ग्राम-नगरादि का स्थान आता है। इसके पश्चात् देवों एवं चारों वर्णों के लिये भूमि, भवन, यान तथा श्यनासन का स्थान आता है। तीसरे एवं चौथे अध्याय में भूमि के परीक्षण का वर्णन प्राप्त होता है। तदनन्तर माप के विभिन्न प्रकारों एव ईकाइयों का निरूपण किया गया है। चार प्रकार के शिल्पी-स्थपति, सूत्रग्राही, तक्षक तथा वर्धकि निर्माण कार्य के अभिन्न अंग है – अतः इनका ग्रन्थ में विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्माण हेतु दिशा का सटीक ज्ञान एवं कार्य के अनुसार वास्तुपदविन्यास आवश्यक होता है। अतः ग्रन्थ में इनका विवेचन प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ग्राम, नगर, भवन, नींव में गर्भविन्यास, उपपीठ, अधिष्ठान, स्तम्भ, द्रव्य-संग्रह, प्रस्तरकरण, सन्धिकर्म, कलश, छत एवं शिखर आदि का निरूपण किया गया है। देवालय, राजभवन-मर्यादा गोपुर, मण्डप, सभागृह, शालगृह, अलिन्द, आँगन आदि वास्तु के अंग है। इनका भी विवेचन ग्रन्थ में प्राप्त होता है।

अभ्यास प्रश्न – 1

निम्नलिखित में से सही विकल्प का चुनाव कीजिये

1. परमपिता परमात्मा की अनादि और दिव्य वाणी कौन सा वेद है -
   - अ. ऋग्वेद
   - ब. सामवेद
   - स. यजुर्वेद
   - द. सभी
2. वास्तुशास्त्र का उद्गम स्थल क्या है
   - अ. स्थापत्य वेद
   - ब. भविष्य पुराण
   - स. नारद पुराण
   - द. कोई नहीं
3. संसार की सबसे प्राचीन रचना कौन सी है
   - अ. ऋग्वेद
   - ब. सामवेद
   - स. गरुड़ पुराण
   - द. इनमे से कोई नहीं
4. वास्तुशास्त्र उपनिषद किसे कहते हैं -
   - अ. स्थापत्य वेद
   - ब. धनुर्वेद
   - स. आयुर्वेद
   - द. इनमे से कोई नहीं

अभ्यास प्रश्न – 2

निम्नलिखित में से सत्य असत्य का निर्धारण कीजिये

1. विश्वकर्मा प्रकाश वास्तुशास्त्र का प्रथम स्वतन्त्र ग्रन्थ है ( )
2. मयमतम ग्रन्थ में कुल 36 अध्याय हैं। ( )
3. विष्णुधर्मोत्तर पुराण में चित्रकला की बात नही की गई है ( )
4. विश्वकर्मा प्रकाश में कुल 44 अध्याय हैं ( )

अभ्यास प्रश्न – 3

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये –

गरुड़ पुराण के किस अध्याय में वास्तु की चर्चा है 46 एवं 47

1. ....पुराण में वास्तु के 5 स्तंभों की चर्चा मिलती है।
2. स्कंद पुराण में .... खंड हैं।
3. ज्ञान का कोष या भंडार ....पुराण को कहा गया है।
4. संहितात्मक स्कंद पुराण में .... संहिताएं हैं।

3.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आपने जाना कि वास्तुशास्त्र मूल या मानक ग्रन्थ कौन अकों से हैं किन किन ग्रंथो से विभिन्न कालखंडो के बाद वास्तुशास्त्र अपनी वैज्ञानिकता एवं प्रमाणिकता को धारण किया हुआ आज तक हमारे पास सुरक्षित है। इस शास्त्र की ग्रन्थ परम्परा कौन सी है? इस शास्त्र के मानक ग्रंथो का वर्णन भी आपने पढ़ा। उनका विस्तृत परिचय जानकर उनके विषय वास्तु से भी आप परिचित हुए। कुछ आचार्य वेदांग ज्योतिष के संहिता स्कन्ध से वास्तु का प्रत्यक्ष सम्बन्ध मानते है, कुछ विद्वान अष्टाङ्गवास्तु में वास्तु के आठ अङ्गों में ज्योतिष को भी एक अड्ग मानते हैं। इस प्रकार दोनों ही स्थितियों में ज्योतिष और वास्तुशास्त्र का अङ्गांगीभाव सिद्ध होता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि वास्तुशास्त्र वैदिक-पौराणिक-आगम-ब्राह्मण ग्रन्थ से लेकर अपनी स्वतन्त्रता तक की यात्रा पूरी किया है और आज भी लोकोपयोगी बना हुआ है जो सबका कल्याण करने में निहित है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप वास्तु के शास्त्रीय विषयो से भी परिचित हुए।

3.5 शब्दावली

मानक ग्रन्थ	–	मूल ग्रन्थ जहाँ से वास्तुशास्त्र की उत्पत्ति हुयी या उसका स्वतन्त्र रूप दिखाई दिया।
अष्टाङ्गवास्तु	–	वास्तुशास्त्र के आठ अंग।
महापुराण	–	18 पुराण जिनके पञ्च लक्षण हैं।
संहिता	–	ज्योतिष शास्त्र के तीन स्कन्धो में एक स्कन्ध जिसके अन्तर्गत सामूहिक फल का विचार किया जाता है।
भूपरीक्षा	–	भूमि परिक्षण।

शिलान्यास	–	भूमि पूजन के बाद 5 शिलाओं को पूजन पूर्वक स्थापित करना
द्राविड	–	स्कन्द पुराण के अनुसार विन्ध्याचल से दक्षिण दिशा का क्षेत्र या प्रदेश, वर्तमान में इसका अर्थ दक्षिण भारत से भी ग्रहण किया जाने लगा है।
गारूणी विद्या	–	गरुड़ पुराण का दूसरा नाम

3.6 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न – 1

1. द. सभी
2. अ. स्थापत्य वेद
3. अ. ऋग्वेद
4. अ. स्थापत्य वेद

अभ्यास प्रश्न – 2

1. सत्य
2. सत्य
3. असत्य
4. असत्य

अभ्यास प्रश्न – 3

1. मत्स्य पुराण
2. सात
3. अग्नि पुराण
4. छः

3.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

1. विश्वकर्मा प्रकाश
2. मयमतम
3. मत्स्यपुराण
4. अग्निपुराण
5. वास्तुसार

इकाई 4 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ (भाग 2)

इकाई की संरचना

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ (भाग 2)

4.3 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों का परिचय

4.4 सारांश

4.5 शब्दावली

4.6 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

4.0 उद्देश्य

वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों का अध्ययन करने के विषय में प्रस्तुत इकाई के वर्णन से आप :

- वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों का उल्लेख कर सकेंगे
- वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों के रचनाकारों को भी बता सकेंगे
- मानक ग्रन्थों में वर्णित सिद्धान्तों का उल्लेख कर सकेंगे
- मानक ग्रन्थों के परिचय भी बता सकेंगे
- वास्तुशास्त्र के मूलभूत सिद्धान्तों को बताने वाले ग्रन्थों का उल्लेख कर सकेंगे

4.1 प्रस्तावना

इस खण्ड की तीसरी इकाई में आपने वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों के विषय में भाग 1 में पूर्व में ही अध्ययन कर लिया है। प्रस्तुत इकाई वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों के सन्दर्भ में भाग 2 से सम्बन्धित है। वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों के भाग 1 के वर्णन में जिन आचार्यों और ग्रन्थों के विषय में जानकारी शेष रह गई थी, उन्हीं का विस्तार पूर्वक ज्ञान देने के लिए आप के अध्ययन की सुविधा के लिए दूसरी इकाई में विषय का प्रस्तुतीकरण किया गया है।

वास्तुशास्त्र का अर्थ बहुत व्यापक है। इसमें वास्तुकार सहित सभी कलाओं का समावेश भी हो जाता है। वास्तुशास्त्र की सम्पूर्ण व्याख्या कलाओं के बिनानहीं की जा सकती। वास्तुशास्त्र के विज्ञान को बताने वाले ऋषि महर्षि नेबहुत कुछ हमें दिया है। उन्हीं के बताए हुए तथ्यों के आधार पर आचार्यों में नए-नए ग्रन्थों का संकलन किया है। इस इकाई में उन्हीं संकलित तथ्यों का अध्ययन आप सुगमतापूर्वक करेंगे।

इस प्रकार उक्त तथ्यों का अध्ययन कर लेने के पश्चात् आप वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों के अध्ययन में वर्णन किए गए तथ्यों की व्याख्या करने और उन्हें भली-भांति समझाने में सक्षम हो जाएंगे।

4.2 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थ (भाग 2)

भवनों का निर्माण ताप-शीत और वर्षा से सुरक्षा की आवश्यकता से प्रत्येक जीवित प्राणी को जन्म से ही होती है। इन्ही आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वास्तुशास्त्र का आरम्भ हुआ है। वास्तुशास्त्र का जन्म कब हुआ इस सम्बन्ध में थोड़ा वाद विवाद है और वेदों तथा पुराणों में इस विषय में जो प्रमाण उपलब्ध होते हैं उनसे प्रतीत होता है कि प्राचीन आर्यो के काल में जो घर बनते थे, वैसा और अलंकृत होते थे तथा उन्हें घास-बांस-लकड़ी और मिट्टी जैसे नाशवान पदार्थों से बनाया जाता था। इस योग को कुटीर योग भी कह सकते हैं इसके बाद काष्ट युग आया जिसकी अवधि काफी लम्बी रही। इस अवधि में काष्ट निर्मित भवनों का निर्माण आरम्भ हुआ, तत्पश्चात आरम्भ हुआ ईंटों का प्रयोग। इन में मिट्टी के कोई और शेष उपलब्ध नहीं है कारण यह है कि इन कारों के निर्माण में जिस प्रकार की सामग्री का उपयोग किया गया वह चिरस्थाई नहीं थी । सीरिया वास्तुकला के भी बहुत कम अवशेष उपलब्ध हैं, जो उपलब्ध हैं वह मात्र दिनों से निर्मित भवनों के ही हैं। वास्तुशास्त्र के अर्थ अत्यन्त व्यापक हैं और उसमें वास्तुकार सहित सब कलाओं का समावेश भी हो जाता है वास्तुकला का पारंपरिक क्षेत्र मन्दिरों राजमहल ओ जलाशयों उद्यानों निवास स्थानों दुर्गों राजमार्गों का निर्माण तथा नगर आयोजन आदि का रहा है। ललित कला को वास्तुकला का एक उपविभाग माना जाता था क्योंकि ललित कला में निपुण कलाकार जिन मूर्तियों की रचना करते थे उन्हें वास्तुकला का अलंकारिक तत्व ही माना जाता था। इस प्रकार वास्तुशास्त्र की सम्पूर्ण व्याख्या में कला और वास्तुकला दोनों क्षेत्रों का समावेश है। वास्तुशास्त्र के विज्ञान को जन्म देने वाले हमारे ऋषि महर्षि थे उन्होंने वास्तुशास्त्र विषयक जिन पदों की रचना की वह काल के घर में समा जाने के कारण आज उपलब्ध नहीं है उनकी मूल कृतियों के जो शेष रह गए हैं उनके आधार पर बाद में विद्वानों ने नए नए ग्रन्थों का संकलन किया। इस प्रकार नये आचार्यों के ग्रन्थों का संरक्षण हुआ, जो मानक ग्रन्थों के कसौटी पर उतरते हैं जैसे –

1. बृहद्संहिता
2. अपराजितपृच्छा
3. मानसार
4. मुहूर्तचिन्तामणि
5. प्रासादमण्डन
6. रूपमण्डन
7. राजवल्लभमण्डल
8. देवतामूर्ति प्रकरण
9. वास्तुरत्नाकर
10. मनुष्यालय चन्द्रिका
11. वास्तुरत्नावली
12. समरांगणसूत्रधार
13. युक्तिकल्पतरु
14. वास्तुकला निधि

15. वास्तुप्रदीप
16. वास्तुसार
17. बृहद्वास्तुमाला
18. राजबल्लभ
19. मुहूर्तचिन्तामणि
20. वास्तुविज्ञान
21. शिल्पसंग्रह

4.3 वास्तुशास्त्र के मानक ग्रन्थों का परिचय

बृहद्संहिता

दैवज्ञ वाराहमिहिर विरचित बृहत्संहिता जो प्राचीन भारतीय खगोल विज्ञान का (ज्योतिष शास्त्र) एवं वास्तुशास्त्र का सर्वप्रामाणिक एवं मौलिक ग्रन्थ है। यह 6 वीं शताब्दी ईस्वी (या पहली शताब्दी ईसा पूर्व) में लगभग 4000 संस्कृत छन्दों (श्लोकों) में लिखा गया था, वाराहमिहिर को वास्तुविद्या, गणित, खगोल विज्ञान और ज्योतिष का एक महान वैज्ञानिक विद्वान माना जाता था। बृहत-संहिता एक विश्वकोश के रूप में लिखी गई है। जिसमें खगोल विज्ञान से लेकर अटकल और वास्तुकला, कृषि और रत्न जैसी विभिन्न कलाओं को परिभाषित किया गया है। इस ग्रन्थरत्न मे वास्तु - विद्या पर बढ़ा ही सुन्दर एवं वैज्ञानिक विवेचन है । वराहमिहिर इसके लेखक हैं, जो महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों (कालिदास श्रादि) में से एक थे, ऐसी पुरानी परम्परा है। इस ग्रन्थ में यद्यपि वास्तुविद्या पर केवल थोडे ही अध्याय मिलते हैं परन्तु उनका विवेचन बड़ा ही मार्मिक है। 53 वें अध्याय (वास्तु- विद्या) में प्रारम्भिक प्रवचनों में वास्तु चयन, भूमि-परीक्षा, वृक्षारोपण, दारु-श्राहरण, पद-विन्यास आदि पर विवेचन मिलता है । 'प्रासाद लक्षण नामक 56वें अध्याय में बीस प्रकार के प्रासादों का वर्णन है, साथ ही वास्तुकला सम्बन्धी इसके वैज्ञानिक विवरण विशेष उल्लेख्य हैं । मन्दिर की भूमि, द्वार, गर्भ-द्वार, चित्रण, प्रतिमा माप, पीठ-माप, भूमिका- उच्छ्रययादि पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है। 'चज्रलेप-लक्षण' (57) में सीमेंट का निर्माण तथा अन्य भवनद्रव्यों पर विवेचन है। इसी प्रकार 'शयनासन - लक्षण' (76) में जैसा नाम से स्पष्ट है भवनफर्नीचर, श्रावनए शय्या पर्येक आादि पर विवेचन किया गया है । 'प्रतिमा-लछण' (58) मे वराहमिहिर ने पाषाणकला पर विवेचन किया है वह बड़ा ही वैज्ञानिक है जो ग्रागे के पटलो में विशेष रूप से उल्लेखनीय है । बृहत्संहिता की एक विशेषता यह है कि इस ग्रन्थ में लगभग 7 वास्तु-विद्या के आचार्यों का उल्लेत्र मिलता है - गर्ग, मनु, वशिष्ठ, पराशर, विश्वकर्मा, नग्नजित् तथा मय । इसके अध्यायों के नाम इस प्रकार है -

अध्याय 1 - परिचयात्मक
अध्याय 2 - ज्योतिष (ज्योतिषी)
अध्याय 3 - सूर्य के मार्ग पर (आदित्य-चार)
अध्याय 4 - चन्द्रमा के मार्ग पर (चन्द्र-चार)
अध्याय 5 - राहु (राहु-चार) के फल
अध्याय 6 - मंगल के मार्ग पर (भौम-चार)

अध्याय 7 - बुध के मार्ग पर (बुध-चार)
अध्याय 8 - बृहस्पति के मार्ग पर (बृहस्पति-चार)
अध्याय 9 - शुक्र के मार्ग पर (शुक्र-चार)
अध्याय 10 - शनि के मार्ग पर
अध्याय 11 - धूमकेतु पर (केतु)
अध्याय 12 – अगस्त्य चार
अध्याय 13 - सप्तर्षि के नक्षत्र पर (सात ऋषि या ऋषि)
अध्याय 14 - कर्म विभाग पर
अध्याय 15 - नक्षत्रों पर (नक्षत्र-व्युष)
अध्याय 16 - ग्रहों पर (ग्रह-भक्तियोग)
अध्याय 17 - ग्रहों की युति पर (ग्रहयुद्ध)
अध्याय 18 - चन्द्रमा की ग्रहों के साथ युति पर (शनिग्रहसमागम)
अध्याय 19 - ग्रहों के वर्षों पर (ग्रहवर्षाफल)
अध्याय 20 - ग्रहों की बैठक पर (ग्रहांगक)
अध्याय 21 - वर्षा-बादलों पर (गर्भालक्ष)
अध्याय 22 - वर्षा समर्थन दिवसों पर (गर्भ-धारणा)
अध्याय 23 - वर्षा पर (प्रवरण)
अध्याय 24 - रोहिष-योग पर
अध्याय 25 - स्वाति-योग: पर
अध्याय 26 - साठ-योग: पर
अध्याय 27 - हवाओं पर (वातचक्र)
अध्याय 28 - तत्काल वर्षा के लक्षण (सद्योवर्ष)
अध्याय 29 - फूलों और पौधों पर (कुसुमलता)
अध्याय 30 - गोधूलि घंटे के संकेत (संध्या-लक्षण)
अध्याय 31 - दिग्दाहा पर (क्षितिज पर चमक)
अध्याय 32 - भूकम्प के संकेत
अध्याय 33 - उल्का पर (उल्का)
अध्याय 34 - हेलो पर (परिवेश-लक्षण)
अध्याय 35 - इन्द्रधनुष के लक्षण (इंद्रायुध-लक्षण)
अध्याय 36 - हवाई शहर के लक्षण (गंधर्वनगर-लक्षण)
अध्याय 37 - नकली सूर्य पर (प्रतिसूर्य-लक्षन)
अध्याय 38 - धूल-तूफान पर (रजस-लक्षण)
अध्याय 39 - वज्र पर
अध्याय 40 - सस्य-जातक पर (सब्जी राशिफल)
अध्याय 41 - पदार्थों का वर्गीकरण (द्रव्य-निष्कय)
अध्याय 42 - कीमतों में उतार-चढ़ाव

अध्याय 43 - इन्द्रध्वज (इन्द्र के बैनर) पर
अध्याय 44 - दीप्ति समारोह (नृजनविधि)
अध्याय 45 - वाग्टेल पर (खंजना-कलाक्षन)
अध्याय 46 - पोर्टेंट्स या सार्वजनिक आपदा पर (उत्पता-आध्याय)
अध्याय 47 - मोटली विविध (मयूरसिट्रैक)
संहिता का अंत उचित (पहला आधा); दूसरे भाग की शुरुआत
अध्याय 48 - शाही स्नान (पुण्यस्नान)
अध्याय 49 - पासा पर (मुकुट की थाली)
अध्याय 50 - तलवार पर (खंग-लक्षण)
अध्याय 51 - अंग-विद्या (अंगों के माध्यम से भविष्यवाणी)
अध्याय 52 - पिंपल्स पर (पिटक-लक्ष)
अध्याय 53 - घर-निर्माण पर (वास्तु-विद्या)
अध्याय 54 - अंतर्धाराओं पर (दकार्गल)
अध्याय 55 - बागवानी पर
अध्याय 56 - मन्दिरों के निर्माण पर (प्रासाद-लक्षण)
अध्याय 57 - टिकाऊ सीमेंट पर (वज्रलेप-लक्षण)
अध्याय 58 - मन्दिर की मूर्तियों पर (प्रतिमा-लक्षण)
अध्याय 59 - वन में प्रवेश पर (वनसंप्रवेश या वानप्रवेश)
अध्याय 60 - मन्दिरों में मूर्तियों की स्थापना (प्रतिमा-प्रतिष्ठापन)
अध्याय 61 - गायों (गो) और बैलों (वभा) की विशेषताओं पर
अध्याय 62 - कुत्ते की विशेषताओं पर
अध्याय 63 - मुर्गा की विशेषताओं पर (कुक्कू-लक्ष)
अध्याय 64 - कछुए/कछुए की विशेषताओं पर (कर्म-लक्षण)
अध्याय 65 - बकरी की विशेषताओं पर (छग-लक्षण)
अध्याय 66 - घोड़े की विशेषताओं पर (अश्व-लक्षण)
अध्याय 67 - हाथी की विशेषताओं पर (हस्ती-लक्षण)
अध्याय 68 - पुरुषों की विशेषताओं पर (पुरुष-लक्षण)
अध्याय 69 - पांच महापुरुषों के लक्षण (पंच-पुरुष या पंच-महापुरुष)
अध्याय 70 - महिलाओं की विशेषताओं पर (कन्या-लक्षण)
अध्याय 71 - वस्त्रों के झिल्लियों से संकेत
अध्याय 72 - चौरियों पर
अध्याय 73 - छतरियों पर (छत्र-लक्षण)
अध्याय 74 - महिलाओं की स्तुति पर (स्त्री-प्रसंसा)
अध्याय 75 - स्नेह की जीत (सौभाग्य-करण)
अध्याय 76 - कामुक उपचार, शुक्राणु दवाएं और दवाएं (कंदर्पिका)
अध्याय 77 - इत्र की तैयारी (गंधायुक्ति)

अध्याय 78 - यौन सम्बन्ध पर (पुस्तुरी-समायोग)
अध्याय 79 - सोफे और सीटों पर (अय्यासन)
अध्याय 80 - रत्नों पर (रत्न-परीक्षा)
अध्याय 81 - मोतियों पर (मुक्ता-लक्षण)
अध्याय 82 - माणिक पर (पद्मराग-लक्षण)
अध्याय 83 - पन्ना पर
अध्याय 84 - दीपों पर
अध्याय 85 - दांत पर (दंतकाठ-लक्षण)
अध्याय 86 - सामान्य नियम (शकुन)
अध्याय 87 - क्षितिज के वृत्त पर (अंतर-तकरा)
अध्याय 88 - पक्षियों और जानवरों के अशुभ रोने (विरुता) पर
अध्याय 89 - कुत्तों के घेरे पर
अध्याय 90 - सियार के रोने पर (शिव-रुत)
अध्याय 91 - जंगली जानवरों की आवाजाही
अध्याय 92 - गायों की इच्छा (गो-इग्गीता)
अध्याय 93 - घोड़ों की इच्छा (अश्व-इग्गीता)
अध्याय 94 - हाथियों की मनोवृत्ति (हस्ती-वेशिता)
अध्याय 95 - कौवे का रोना (व्यास-विरुता)
अध्याय 96 - शगुन के पूरक (शकुन-उत्तरा)
अध्याय 97 - प्रभाव के फल के समय (पाक-अध्याय)
अध्याय 98 - नक्षत्रों पर (नक्षत्र-कर्मगुण)
अध्याय 99 - चन्द्र दिवस और आधा चन्द्र दिवस (तीथ-कर्मगुण) पर
अध्याय 100 - करणों के गुणों पर (कारण-गुण)
अध्याय 101 - नक्षत्रों में जन्म के प्रभाव पर (नक्षत्र जातक)
अध्याय 102 - राशि चक्र के संकेतों में विभाजन पर (राणी-विभाग)
अध्याय 103 - विवाह पर ग्रहों की युति का प्रभाव (विवाह-पहला)
अध्याय 104 - ग्रहों के गोचर पर (ग्रह-गोकारा)
अध्याय 105 - तारकीय देवता की पूजा पर (रूपसत्र)

अपराजितपृच्छा

अराजित द्वारा पूछे गये प्रश्नों को समेटे हुये यह ग्रन्थ संवाद रूप में है। यह स्थापत्य विज्ञान का एक अद्भुत एवं अन्य अप्रतिम ग्रन्थ है, जिसे भारतीय स्थापत्य -कला, मूर्तिकला एवं चित्रकला का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है। यह वास्तु शास्त्रीय ग्रन्थों में लब्ध प्रतिष्ठ ग्रन्थ है। इसमें शिल्प -परम्परा के समुचित सङ्कलन के साथ -साथ भारतीय स्थापत्य का व्यापक उद्देश्य तथा कला के आधार भूत तत्वों एवं ज्योतिर्विज्ञान की गाम्भीर्य-पूर्ण चर्चा अत्यन्त आत्मीयता के साथ की गयी है। अपराजितापृच्छा अर्थात अपराजित के प्रश्न वास्तुशास्त्र पर प्रमुख वर्गों के साथ भुवनदेव का 12 वीं शताब्दी का संस्कृत पाठ है। मुख्य रूप से संस्कृत पाठ, यह ग्रन्थ

उत्तर और पश्चिमी भारतीय परम्पराओं को दर्शाता है। पाठ में जैन वास्तुकला और कला पर अध्याय भी शामिल हैं। यह पाठ मन्दिर वास्तुकला (वास्तु), मूर्तिकला (शिल्पा), पेंटिंग (चित्र) और शास्त्रीय संगीत और नृत्य (संगीता, नृत्य) पर अपने वर्गों के लिए उल्लेखनीय है। इसकी कई अधूरी पांडुलिपियां गुजरात में 20वीं शताब्दी की शुरुआत में (विशेषकर बड़ौदा) और अन्य बाद में मध्य और उत्तर भारत में खोजी गई। इसमें कम से कम 239 सूत्र हैं, प्रत्येक सूत्र के बाद कई छंद हैं। इस संग्रह को सूत्रसंतान कहा जाता है, और इस प्रकार यह 7500 से अधिक श्लोकों में विस्तृत है। पाठ का पहला संस्करण और अनुवाद पोपटभाई मांकड़ द्वारा 1950 में प्रकाशित किया गया था, जबकि लाल मणि दुबे ने 1987 में पाठ पर अनुवाद और भाष्य (टिप्पणी) के साथ एक और महत्वपूर्ण अध्ययन प्रकाशित किया था। इस ग्रन्थ की रचना की सही तारीख स्पष्ट नहीं है। आम तौर पर स्वीकृत सीमा इसकी भाषा के आधार पर 1000 से 1200 सीई के बीच होती है, आंतरिक साक्ष्य जैसे कि यह उद्धृत करता है और इसको पुष्ट करता है, साथ ही साथ इसकी विशिष्ट शिक्षाओं का निर्माण वास्तविक मन्दिरों के साथ मेल खाता है और जिसे विश्वास के साथ दिनांकित किया जा सकता है। हालांकि, इसमें निर्दिष्ट मोल्डिंग के लिए सूक्ष्म माप जैसे विशिष्ट विवरण, साथ ही देवता वायु और यम के लिए इसके विनिर्देशों से पता चलता है कि अपराजिताप्रच्छा का अन्तिम संस्करण 12 वीं शताब्दी में पूरा होने की संभावना थी। अपराजिताप्रच्छा की विभिन्न पांडुलिपियों में भिन्नता दिखाई देती है, पाण्डुलिपि के रूप में बनाई गई संभावित त्रुटियों को सदियों से प्रक्षेपित और कॉपी किया गया था।

अपराजित विश्वकर्मा के चार मानस -पुत्रों में कनिष्ठ पुत्र हैं। इस ग्रन्थ में जहाँ प्रश्न है वहाँ उसका उत्तर भी है। प्रश्न एक योग्य पुत्र के द्वारा किये गये है और उत्तर भी एक प्रख्यात स्थापति विश्वकर्मा द्वारा दिये गये हैं ,जो कि स्थापत्य विज्ञान का एक प्रमुख ज्ञाता माने जाते है। इस प्रकार उक्त ग्रन्थ का शीर्षक चरितार्थ है। इस कृति को सूत्र सन्तान गुण कीर्ति प्रकाश या सूत्र – सन्तान भी कहा गया है। अपराजितपृच्छा की रचना- काल का विषय अनिश्चित है तथापि इसका रचना काल 12वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और 13 वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है।

मानसार

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में मानसार अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। मानसार शिल्पशास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ है, जिसके रचयिता मानसार हैं। इसके 43 वें अध्याय में ऐसे अनेक रथों का वर्णन है जो वायुवेग से चल कर लक्ष्य तक पहुँचते थे। उनमें बैठा व्यक्ति बिना अधिक समय गवाँए गन्तव्य तक पहुँच जाता था। श्री प्रसन्न कुमार आचार्य ने बहुत परिश्रम से मानसर शिल्पशास्त्र को जोड़जोड़कर पुनः निर्मित किया और इसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद किया। यह ग्रन्थ सात भागों में प्रकाशित किया गया। मानसर शिल्पशास्त्र ब्रह्मा की स्तुति से आरम्भ होता है जो ब्रह्माण्ड के निर्माता हैं। यह ग्रन्थ शिव के तीसरे नेत्र के खुलने पर समाप्त होता है। इसके लगभग 70 अध्यायों में प्रथम आठ अध्यायों को एक भाग में रखा गया है। आगे के दस अध्यायों से दूसरा समूह बनता हैं। इसके बाद मानसार का केन्द्रीय भाग आता है। अध्याय 19 से अध्याय 30 में एकमंजिला भवन से लेकर 12 मंजिला भवन का वर्नन करते हैं। अध्याय 31 से अध्याय 50 में वास्तुशिल्प की चर्चा है। इसके बाद मूर्तिकला की चर्चा आती है जो अध्याय 51 से अध्याय 70 तक की गयी है। अध्याय 51 से अध्याय 70 की सामग्री को सामान्यरूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है –

1. अध्याय 51 से अध्याय 65 तक एक समूह

2. अध्याय 66 से अध्याय 70 तक दूसरा समूह।

इस प्रकार वास्तुशास्त्रीय विषयों को संजोकर अपने अन्दर समाहित करने वाला यह विशालकाय ग्रन्थ वास्तुशास्त्रीय विषयों एवं विधाओं के लिए सिरमौर है। मानसार की अनेक हस्तलिपियों के कारण और उनको समझाने वाले रेखा चित्रों के अभाव में कोई भी विद्वान् उसे टीका - टीप्पणी सहित प्रकाशित करने का सहास कई वर्षों तक नहीं कर सका। मानसार में 70 अध्याय हैं। प्रथम 40 अध्यायों में भवन निवेश और नगर निवेश का वर्णन हैं। अग्रिम 10 अध्यायों में राजा के राजमुकुट, रथों, शय्या आदि साज – सम्मान का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। शेष 20 अध्यायों में वैष्णव, बौद्ध और जैन मूर्तियों के लक्षण उनके विविध अङ्गो की आनुपातिक माप और रचना – काल का विस्तृत उल्लेख मिलता हैं। इसके अध्यायों के नाम इस प्रकार हैं -

1. संग्रहः
2. मानोपकरणविधानम्
3. वास्तुप्रकरणम्
4. भूमिसंग्रहविधानम्
5. भूपरीक्षाविधानम्
6. शंकुस्थापनलक्षणम्
7. पदविन्यासलक्षणम्
8. बलिकर्मविधानम्
9. ग्रामलक्षणम्
10. नगरविधानम्
11. भूमिलम्बविधानम्
12. गर्भविन्यासविधानम्
13. उपपीठविधानम्
14. अधिष्ठानविधानम्
15. स्तम्भलक्षणम्
16. प्रस्तरविधानम्
17. सन्धिकर्मविधानम्
18. विमानलक्षणम्
19. एकतलविधानम्
20. द्वितलविधानम्
21. त्रितलविधानम्
22. चतुस्तलविधानम्
23. पंचतलविधानम्
24. षट्तलविधानम्
25. सप्ततलविधानम्

26. अष्टतलविधानम्
27. नवतलविधानम्
28. दशतलविधानम्
29. एकादशतलविधानम्
30. द्वादशतलविधानम्
31. प्राकारविधानम्
32. परिवारविधानम्
33. गोपुरविधानम्
34. मण्डपविधानम्
35. शालाविधानम्
36. गृहमानस्थानविधानम्
37. गृहप्रवेशविधानम्
38. द्वारस्थानविधानम्
39. द्वारमानविधानम्
40. राजहर्म्यविधानम्
41. राजांगविधानम्
42. राजलक्षणम्
43. रथलक्षणम्
44. शयनविधानम्
45. सिंहासनलक्षणम्
46. तोरणविधानम्
47. मध्यरंगविधानम्
48. कल्पवृक्षविधानम्
49. मौलिलक्षणम्
50. भूषणलक्षणम्
51. त्रिमूर्तिलक्षणम्
52. लिंगविधानम्
53. पीठलक्षणम्
54. शक्तिलक्षणम्
55. जैनलक्षणम्
56. बौद्धलक्षणम्
57. मुनिलक्षणम्
58. यक्षविद्याधरादिलक्षणम्
59. भक्तलक्षणम्
60. हंसलक्षणम्
61. गरुडलक्षणम्

62. वृषभलक्षणम्
63. सिंहलक्षणम्
64. प्रतिमाविधानम्
65. उत्तमदशतालविधानम्
66. मध्यमदशतालविधानम्
67. प्रलम्बलक्षणम्
68. मधूच्छिष्टविधानम्
69. अंगदूषणविधानम्
70. नयनोन्मीलनलक्षणम्

मुहूर्तचिन्तामणि

रामदैवज्ञ विरचित मुहूर्त चिन्तामणि ग्रन्थ अत्यन्त प्राचीन और प्रामाणिक है। इस ग्रन्थ में कुल 12 प्रकरण हैं जिनमें वास्तु प्रकरण एवं गृहप्रवेश प्रकरण अत्यन्त प्रचलित हैं। इसके प्रथम प्रकरण का नाम शुभाशुभ प्रकरण है, इसमें तिथियों की संज्ञा एवं विभिन्न प्रकार के योग-संयोग-कुयोग की बात की गई है। दूसरे प्रकरण का नाम नक्षत्र प्रकरण है, जिसमें नक्षत्रों के नाम, नक्षत्रों के स्वामी एवं नक्षत्रों के विभिन्न मुहूर्तो की बात की गई है। तीसरे प्रकरण का नाम संक्रान्ति प्रकरण है, इसमें संक्रान्तियों के नाम रात्रि के संक्रान्तियों का फल दिन के संक्रान्तिओं का फल इत्यादि विस्तार से बताया गया है। पुनः गोचर प्रकरण है जिसके अन्तर्गत सूर्य आदि ग्रहों का शुभ और अशुभ विचार क्रम वेध ग्रहण नक्षत्र के फल एवं मुहूर्त इत्यादि के विषय में बात किया गया है। पांचवें संस्कार प्रकरण में प्रथम रजोदर्शन में उत्तम मध्यम निकृष्ट नक्षत्रों की बातें की गई है एवं षोडशा संस्कारों के लिए मुहूर्त आदि का विस्तार से विचार किया गया है। अगला विवाह प्रकरण है, इस प्रकरण में विवाह के प्रश्न, प्रश्न विधि, विवाह कारक योग, वैधव्य योग, कुल्टा योग मृतवत्सा योग, विवाह भंग योग, एवं अष्टकूट को विस्तारपूर्वक समझाया गया है। इस प्रकरण में विभिन्न प्रकार के ग्रहों के लत्ता दोष, क्रांति साम्य, दोष की बात की गई है। वधू प्रवेश प्रकरण में विवाह के बाद प्रथम वर्ष के महीनों में स्वामी के घर में स्त्री के रहने का फल बतलाया गया है। अगला द्विरागमन प्रकरण है, इस प्रकरण में सम्मुख और दक्षिण शुक्र का दोष शुक्र के दोष का परिहार इत्यादि बतलाया गया है। अग्नि आधान प्रकरण इस प्रकरण में अग्नि आधान कालिक लग्न के यज्ञ कार्य की योग बताए गए हैं। राज्याभिषेक प्रकरण में नक्षत्र तथा लग्न शुद्धि राज्याभिषेक काल में ग्रहों की स्थिति और उसके फल की चर्चा की गई है। यात्रा प्रकरण में प्रश्न कालिक शुभाशुभ योग प्रश्न कालिक शुभ यात्रा योग, मास भेद से यात्रा के शुभाशुभ भेद विभिन्न प्रकार के धार्मिक यात्राओं की बात की गई है।

पुनः वास्तु प्रकरण में राशि द्वारा निषिद्ध वास स्थान, ग्राम, निषिद्ध वास वास स्थान चक्र ध्वज का प्रयोजन गृहारम्भ में निश्चित काल, गृह आरम्भ में वृषवास्तु चक्र गृह आरम्भ में सौर और चन्द्र महीनों की एकता का फल गृह आरम्भ में पंचांग शुद्धि देवालय आदि के स्थान भेद से राहु का मुख चक्र गृह कूप चक्र मकान के भीतर कहां क्या बनाना चाहिए इन विषयों के सम्बन्ध में द्वार चक्र आदि के विषय में विस्तार से चर्चा की गई है। अन्तिम गृह प्रवेश प्रकरण में गृहप्रवेश मुहूर्त, गृह प्रवेश, वास्तु पूजा आदि के नक्षत्र एवं सूर्य चक्र कलश वास्तुचक्र गृह प्रवेश के पश्चात कर्तव्य विधि एवं वास विधि की विस्तृत विवरण आचार्य ने मनोरम तरीके से प्रस्तुत किया है।

प्रासादमण्डन

यह ग्रन्थ मन्दिर निर्माण के वास्तु सम्मत सिद्धान्तों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन करता हैं । सूत्रधारमण्डन कृत इस गन्थ में 8 अध्याय हैं । प्रासादमण्डन के द्वितीय अध्याय में जगती, तोरण, और देवता के स्थापन में दिशा के नियम का विशेष उल्लेख है प्रासाद के अधिष्ठान की संज्ञा जगती है। देव मन्दिर में वाहन निर्माण के विशेष नियम उक्त ग्रन्थ में वर्णित है।

मनुष्यालय चन्द्रिका

नीलकण्ठ प्रणीतमनुष्यालयचन्द्रिका ही एकमात्र ऐसा लघुकाय ग्रन्थ है जो वास्तुशास्त्र से सम्बद्ध विषयों को स्पष्टता पूर्वक प्रतिपादित करने वाला है एवं सर्वजनसंवेद्य है। इसमें भू परीक्षा, भूमि की भौगोलिक स्थिति शङ्कु द्वारा दिङ् निर्धारण,भूमि मापन, गृह के अधिष्ठान, प्रणाल, स्तम्भ, आच्छादन, शिखर निर्माण, शीर्ष निर्माण में दाक्षिणात्य स्थापत्य परम्परा, द्वार, कपाट, अर्गला, कील, उपद्वार, विभिन्न कक्ष, कूप, तडाग आदि का स्पष्ट तया विवेचन किया गया है।

मनुष्यालय चन्द्रिका ग्रन्थ में 7 अध्याय हैं तथा कुल 246 श्लोक हैं। इसमें मुख्य रूप से मानव के जीवन उपयोगी आवास गृह, गृह उपयोगी कूप, वापी, तथा आधार सहित उर्ध्व मंजिलों और उपयोगी द्वार, मान आदि का विस्तृत विवेचन किया गया है। ग्रन्थ का प्रथम अध्याय भूपरीक्षा परिग्रह नाम से है और इसमें 33 श्लोक हैं। इसमें मुख्य रूप से आवास योग्य भूमि के चयन पर विचार किया गया है। ग्रन्थकार ने मंगलाचरण में विष्णु के यादव या श्री कृष्ण स्वरूप नृसिंह और गणपति की वन्दना से ग्रन्थ को प्रारम्भ किया है ।

ग्रन्थकार ने अपना परिचय नीलकंठन के रूप में प्रस्तुत किया है, रचनाकार नीलकंठन सर्वप्रथम वास्तुशास्त्र की परम्परा को कहते हैं और ब्राह्मण आदि के लिए आवास योग्य भूमि का चयन कर बनवाए गए आवास को सदैव दृष्टिगत रखने पर जोर देते हैं। रचनाकार ने सर्वप्रथम भूमि की परीक्षा आवश्यक बतलाई है और शाला तथा बीथी आदि के निर्माण के बारे में पहले ही निर्णय करने पर जोर दिया है। मनुष्यालय चन्द्रिका का द्वितीय अध्याय दिङनिर्णयादि शुभवीथी परिग्रहवास्तुदेवतानिर्णय है। इसमें सूत्र चिन्ह आंगन का कार्य बतलाया गया है। तीसरे अध्याय में मानभेदयोन्यादिनिर्णय रखा गया है, जिसमें विभिन्न प्रकार के अंगुल्यादि मान की चर्चा की जाती है, इसमें वेशभूषा वस्त्र आदि की संरचना पर बल दिया गया है। वास्तु कार्य के 21 अंगों के विषय में इसमें विस्तृत चर्चा की गई है। चौथे अध्याय में गृहाणामिष्टदीर्घविस्तारशालानिर्णय है, इसमें 29 श्लोक हैं। यह मुख्यतः साला विधान पर आधारित है इसमें स्थित आवास के लिए उचित विस्तार दीर्घ अन्तराल रखने का निर्देश दिया गया है। चतुः शाल का विवरण और उसका कोटि का वर्गीकरण भी इसी अध्याय में बतलाया गया है। पंचम और छठे अध्याय का शीर्षक नहीं है परन्तु पंचम अध्याय में कुल 40 श्लोक हैं जिसमें जल निष्कासन के लिए गृह आधार को ऊंचे रखना उपपीठ मल्लीकुट्टीम या पौधे स्थल आंगन गमन के नियमों के साथ-साथ अन्तराल बाद मान अधिष्ठान याकुल्ट स्तम्भ के सम्बन्ध में बताया गया है। छठे अध्याय में मातृका विचार है किन्तु इसे कुट्टलाधि मान शिखर विधेय नाम से वर्गीकृत किया गया है। इसमें 24 श्लोक हैं जो मुख्य रूप से विश्वकर्म भवन न्यास रूप लम्ब प्रमाण दिए गए हैं।

सातवें और अन्तिम अध्याय में 45 श्लोक हैं इसमें सर्वप्रथम स्वर्ण मन्दिर की विधि रूपों पर निबन्ध के लिए निम्न पट्टिका का प्रमाण उच्च तथा निम्न अष्टपद का मान आदि कहा गया है।

वास्तुमण्डन

सूत्रधारमण्डन विरचित इस ग्रन्थ में दिशा निर्धारण में सामान्य नियम की अपेक्षा भवन के मुख्य द्वार को पूर्व दिशा मानकर फ़िर कक्ष की वास्तु योजना पर कार्य करने का सङ्केत किया है। शल्योद्धार के प्रसंग में ग्रन्थकार अहिबल चक्र द्वारा भूमि गत धन अनुसन्धान की भी प्रेरणा देते है। वास्तुमण्डन के दूषण भूषण अध्याय में अनेक गुण दोषों की चर्चा है।

रूपमण्डन

सूत्रधारमण्डन विरचित रूपमण्डन भारतीय वास्तुशास्त्र परम्परा के मानक ग्रन्थों में अप्रतिम है, यद्यपि इसका प्रतिपाद्य विषय प्रतिमा रचना विज्ञान से सम्बन्धि है तथापि इसके प्रणेता ने अपनी इस कालजयी कृति को वास्तुशात्र के अन्तर्गत माना है –

विश्वरूपं नमस्कृत्य पूर्वतान्त्रनुसरातः।
मंदनास्तुनाते वास्तुशास्त्रं श्रीरूपमंदनम।

रूपमण्डन का उल्लेख अनेक सूचियों में प्राप्त होता है इस ग्रन्थ का रचनाकाल विवादित है, परन्तु बहुमान्य तिथि बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्ध है। वर्तमान में उपलब्ध इस ग्रन्थ के सम्पादक श्रीवास्तव के अनुसार ग्रन्थकार ने इस ग्रन्थ की रचना में अपराजितपृच्छा का सुन्दर उपयोग किया है। इसके अधिकांश विवरण या तो अपराजित पृच्छा से या छायाग्रहण से उद्धरण देखने को मिलते हैं रूपमण्डन का प्रथम अध्याय मुख्य तया तालाधिकार है जिसके पूर्वांश मे प्रतिमा द्रव्य के गुण दोष का विवेचन है। मूर्ति निर्माण हेतु शिला चयन का विधान एवं प्रतिमा द्रव्य के रुप मे धातुओं, रत्नों, काष्ठ, और प्रवाल की भी उपयुक्तता का विस्तार से वर्णन है। इसमें 6 अधिकार है जिनका सामान्य परिचय इस प्रकार है–

1. तालाधिकार

   रूप मण्डन का प्रथम अध्याय मुख्यतया तालाधिकार है, जिसके पूर्व में प्रतिमा द्रव्य के गुण दोष का विवेचन किया गया है। आरम्भ में यह भी बताया गया है कि शास्त्र में केवल देव मूर्तियों का विवेचन होता है, और उनके निर्माण में शास्त्र के ही लक्षणों का मुख्यतया पालन करना चाहिए। मूर्ति निर्माण के लिए अच्छी अथवा शास्त्रविरुद्ध शिला का विवेचन भी इसमें किया गया है। मूर्ति के जीर्णोद्धार और प्रतिष्ठा, खण्डित और भग्न मूर्तियों का फल, देवताओं को मन्दिरों में ही प्रतिष्ठा, प्रतिमा की ऊंचाई के हिसाब से उसमें मूर्ति प्रतिष्ठा एवं शिल्पकारों में मूर्ति निर्माण तथा स्थापना सम्बन्धी परम्पराएं और मान्यताएं, ताल मन में प्रयुक्त मान की सबसे सूक्ष्म इकाई परमाणु से लेकर इसकी गणना में छाया, रेखा, यूका इत्यादि के विषय में विस्तृत रूप से बताया गया है।

2. देवतापूजन अधिकार

   रूप मण्डन के द्वितीय अध्याय में कुल 38 श्लोक हैं जिनमें विविध देवताओं का विचार किया गया है।प्रारम्भ में तो देवता पूजन सम्बन्धी विविध निषेध का विचार किया गया है। इसके बाद क्रमशः ब्रह्मा, सावित्री, ऋषि, विश्वकर्मा, नवग्रह, अष्टदिक्पाल आदि का विवेचन किया गया है। आयतन और प्रतीहारों के विवरण के साथ अन्य विषयों का भी विस्तृत विचार दूसरे अध्याय मे किया गया है।

3. देवतामूर्ति अधिकार

रूप मण्डन के तीसरे अध्याय में विष्णु के मूर्तियों और शालिग्राम का विस्तृत विवेचन किया गया है। विष्णु को वैदिक मान्यता त्रिविक्रम की कल्पना 24 प्रकार के विष्णु और विष्णु का विकास एवं रूप मण्डन में पद्मपुराण के पातालखण्ड के वर्णित विषयों के सम्बन्ध में विस्तृत विचारणा भी प्राप्त है। इसके अतिरिक्त अग्नि इत्यादि देवताओं विष्णु के अवतारों और जलाशायी विष्णु, गरुड़ एवं विष्णु की विशिष्ट मूर्तियों के विषय में विवेचन के साथ-साथ शालिग्राम की उपयोगिता शालिग्राम पर प्राकृतिक रूप से बनी रेखाओं के आधार पर उसमें विष्णु के स्वरूप विशेष की प्रतिष्ठा और शालिग्राम का महत्व विस्तार से बताया गया है।

4. शिवमूर्ति शिवलिंग लक्षणाधिकार

चौथे अध्याय में रूपमण्डन शिवमूर्ति शिवलिंग लक्षण अधिकार का वर्णन किया गया है। यह इस ग्रन्थ का सबसे बड़ा अध्याय है और इसमें 106 श्लोक हैं। भारतीय देववाद की शिव मूर्तियां प्रमुख तत्व है तथा शिव की अनेक तरह की मूर्तियों का विधान शास्त्रों में बतलाया गया है। रूप मण्डल में द्वादशशिव का विस्तृत विवेचन है इस ग्रन्थ के अनुसार द्वादश शिव की सूची में संयोजन वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईश, मृत्युंजय, किरण, श्रीकान्त, विरुपाक्ष, सदाशिव, और शिव के विषद विवेचना की है। द्वादश शिव की गणना या विवेचन रूपमण्डन के पूर्व के ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होती है। एकादश रूद्र अवश्य ही सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। अपराजितपृच्छा में भी एकादश रूद्र की ही बातें प्राप्त होती हैं। शिव मूर्तियों के विषय में भी इस अध्याय में विवेचना की गई है।

5. शाक्ताधिकार

रूपमण्डन का पांचवा अध्याय शाक्ताधिकार है, इसमें गौरी आदि देवियों के अतिरिक्त गणेश, हेरम्ब, वक्रतुण्ड, क्षेत्रपाल और बटुकभैरव का भी मूर्ति विधान विस्तार पूर्वक बताया गया है। गौरी के छः स्वरूपों का वर्णन अपराजितपृच्छा में प्राप्त होता है। ऐसा ही सूत्रधारमण्डन में भी द्वादश गौरी और श्रीगौरी का चयन रुपमण्डन में किया गया है।

6. जैनमूर्ति लक्षणाधिकार

रूपमण्डन के छठे अध्याय का नाम जैनमूर्ति लक्षण अधिकार है। सूत्रधारमण्डन के काल में गुजरात और राजस्थान में जैन धर्म का बड़ा प्रभाव था, और जैन मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण का अधिक प्रचार था सूत्रधारमण्डन ने जैन प्रतिमा लक्षण का सूक्ष्म किंतु उपयोगी विवरण इस ग्रन्थ के छठे अध्याय में प्रस्तुत किया है। जैन साहित्य में जिनों अथवा तीर्थंकरों के मूर्ति लक्षणों का यत्र तत्र विवरण मिलता है। 24 तीर्थंकरों की प्रतिमा के लक्षणों में स्वतः भी बहुत भेद नहीं होता। यह तीर्थंकर के प्रतिमा के विषय में सभी प्रकार के भ्रान्तियों का खण्डन करने वाला अत्यन्त महत्वपूर्ण अध्याय है।

राजवल्लभमण्डन

राजवल्लभमण्डन नामक वास्तुशास्त्र का यह अद्वितीय ग्रन्थ राजस्थान के मेवाड के सुप्रसिद्ध स्थपति सूत्रधारमण्डन द्वारा लगभग 15 वीं के मध्य भाग में रचा गया था। प्रकृत ग्रन्थ के शीर्षक से स्पष्ट है कि इसका मुख्य उद्देश्य राजमहल, दुर्ग आदि की रचना नगर सन्निवेश तथा राज कर्मचारियों के भवनों के निर्माण हेतु वास्तु शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना है। यद्यपि प्रसंग

वश ग्रन्थ में सामान्य जनता के भवनों की निर्मिति के विषय में भी निर्देश प्राप्त है किन्तु वे भी एक राजा की दृष्टि से किये गये है। ग्रन्थ मे यह भी निर्देश है कि जब राजा कोई नया नगर या ग्राम बसाये तो विविध प्रकार के भवनों का क्या स्वरुप हो, इसका ज्ञान उसे होना चाहिए। अन्तिम दो अध्याय मुख्यतः ज्योतिष परक है और शकुन शास्त्र से भी घनिष्ठ सम्बन्ध रखते है। यह विशालकाय ग्रन्थ 14 अध्यायों में विभक्त है।

देवतामूर्तिप्रकरण

सूत्रधारमण्डनकृत देवतामूर्तिप्रकरण ग्रन्थ 8 अध्यायों में विभक्त है। ग्रन्थ के अन्तर्गत शिला परीक्षा, प्रतिमा – प्रमाण, गुण – दोषाधिकार, प्रतिमाताल निर्णयाधिकार, प्रतिमा पद स्थान दृष्टि स्थानाधिकार, ब्रह्मा सूर्य नवग्रह दस दिक्पालाधिकार, विष्णु- शालिग्राम, शिला परीक्षा आदि भेदाधिकार, रुद्र मूर्ति लिंगा धिकार, जिन मूर्ति चतुर्विंशति यक्ष- यक्षिण्यधिकार, देवी- मूर्ति लक्षणाधिकार आदि मूर्तियों का विवेचन किया गया है।

वास्तुसौख्यम्

टोडरमल्ल द्वारा विरचित वास्तुसौख्यम् में 9 भागों मे विभक्त है। प्रथम भाग में ग्रन्थ का उद्देश्य, द्वितीय भाग में वृक्षशल्य विधि अपने आप में अद्भुत विज्ञान का द्योतक है। शकुन एवं प्रश्न वर्ण से शल्योद्धार का वर्णन, तृतीय भाग में वास्तुचक्र, शिला न्यासोपक्रम, चतुर्थ भाग में दिक् साधन, आय व्ययादि का विवेचन, पंचम भाग में राजा प्रभृति सर्व साधारण के गृहों का प्रमाण, षष्ठ भाग में वास्तु के देवी देवताओं का विभाग व मर्मस्थान का विवेचन, सप्तम भाग में गृह के मुख्य द्वार का निर्णय, अष्टम भाग में गृह निर्माण के मुहूर्त, नवम भाग में गृह जातक, शंकुरोपण, मन्त्रभाग, वास्तुपूजन आदि विषयों का वर्णन है।

वास्तुरत्नावली

निबन्ध ग्रन्थों की कोटि में स्वल्प किन्तु विषय की व्यापकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। मैथिल पण्डित दैवज्ञ जीवनाथ ने इस ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह उस वंश से सम्बद्ध थे जिसने वेद वेदाङ्ग से लेकर ज्योतिष के त्रिस्कन्धो का विशेष अध्ययन, अध्यापन किया था। यह वंश कई शासको के यहाँ सम्मानित हुआ था। ग्रन्थ के रचयिता ने वास्तुरत्नावली में पूर्वसूरियों के श्लोकों का न केवल संग्रह किया वरन अपनी टीका भी दी। दस अध्यायों वाले इस स्वल्प ग्रन्थ में वास्तु विषयक नाना कृत्यों, मतों का यथावश्यक शास्त्रीय उल्लेख वर्णित है।

समराङ्गणसूत्रधार

समराङ्गणसूत्रधार बहु प्रसिद्ध भोजकृत वास्तु ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में सभी प्रमुख वास्तु शास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन हुआ हैं। यह ग्रन्थ अत्यन्त पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक हैं। इस ग्रन्थ में जन भवन राज भवन तथा देव भवनों के रचना सिद्धान्त की समुचित व्याख्या हुई है। समराङ्गणसूत्रधार का एक अर्थ युद्ध क्षेत्र का नियन्ता है जो कि भोज का विरुद्ध है। दूसरा अर्थ है सम्यक् चक्र वाले आङ्गनों का सूत्रधार अर्थात् वास्तु विद्। इस ग्रन्थ में 83 अध्याय है। समरांगण सूत्रधार भारतीय वास्तुशास्त्र से संबंधित ज्ञान कोसीय ग्रन्थ है जिसकी रचना धार के परमार वंश के राजा भोज ने किया था। इस ग्रन्थ में नगर योजना भवन शिल्प मन्दिर शिल्प मूर्तिकला तथा मुद्राओं सहित यन्त्रों के बारे में विस्तार से बताया गया है। यन्त्रों के लिए 31 संख्या का अध्याय अलग से यन्त्रविधान के नाम से वर्णित है। इस अध्याय में अनेकों यन्त्रों का वर्णन है लकड़ी के वायुयान, यान्त्रिक दरबान तथा सिपाही के वर्णन के साथ इनमें रोबोट की भी झलक देख सकते हैं। शास्त्र सम्पदा मुगल आक्रमण से नष्ट होने के बाद भी शास्त्रों में

अनेक विषय अभी भी उसी प्रकार प्राप्त होते हैं। विश्वकर्मा मुनि का ग्रन्थ इसके पूर्व प्रामाणिक माना जाता रहा है। इस ग्रन्थ में तरल यांत्रिकी एवं यान्त्रिक सिपाही का विशेष उल्लेख है।

इस प्रकार हम देख पा रहे हैं कि अनेक चमत्कारिक यन्त्रों फ़व्वारा, द्वारपाल यन्त्र, आकाशचारी यन्त्र आदि की भी चर्चा की गयी है।

युक्तिकल्पतरु

श्री भोजराज विरचित युक्तिकल्पतरु 13 युक्तियों में विभक्त विशालकाय ग्रन्थ है। नीतियुक्ति, द्वन्द्वयुक्ति, नगरयुक्ति, वास्तुयुक्ति, आसनयुक्ति, छत्रयुक्ति, अश्वयुक्ति, उपकरणयुक्ति, अलंकारयुक्ति, कर्केतनमणियुक्ति, अस्त्रयुक्ति, यात्रायुक्ति, धातु नौका युक्ति। विभिन्न मुनियों के ग्रन्थों का यत्न पूर्वक सार लेकर अपने तथा सबके संतोष के लिए राजा भोजयुक्तिकल्पतरु की रचना करता है।

इसमें नीति युक्ति के अन्तर्गत गुरु आदि का लक्षण, कृषि कर्म, यान, यात्रा, विग्रह आदि का वर्णन द्वंद्व युक्ति में कृत्रिम द्वंद्व युक्ति कृत्रिम द्वंद्व युक्ति की बात की गई है। नगर निर्माण आदि के विषय में इस ग्रन्थ में विस्तार से वर्णित है।

वसति लक्षण एवं वास्तु युक्ति के अन्तर्गत स्थान निर्णय, दिशा निर्णय, मान ,गुण दोष, वास्तु आरम्भ काल, वास्तु प्रवेश काल, द्वार निर्णय, प्राचीर निर्णय के द्वारा वर्णित चार प्रकार के वास्तु के खण्ड का निर्णय दिया गया है। वास्तु के लक्षण, विलास, गृह, रंग,आसन, युक्ति सामान्य उद्देश्य, पीठीदेश, शिला, पीठीकाष्ठ एवं कुम्भाग दंड लक्षण, ध्वजा युक्ति, निष्पताका ध्वज, उपकरण युक्ति रत्न परीक्षागार, उद्देश्य, वितान लक्षण, अलंकार युक्ति, पद्मराग परीक्षा, वज्र आदि के दोष इत्यादि और इनके मूल्य का वर्णन है। हीरक परीक्षा, हीरक के मूल्यों की परीक्षा, प्रवाल परीक्षा, गोमेद परीक्षा, मुक्ता परीक्षा, वैदूर्य परीक्षा, इन्द्रनील की परीक्षा, मरकत परीक्षा, कृत्रिम परीक्षा, पुष्पराज परीक्षा, कुलरणी परीक्षा, रुद्राक्ष परीक्षा, स्फटिक परीक्षा, खण्ड् परीक्षा, अश्व के आवर्त का गुण ,अश्व का दोष इत्यादि विषयों पर विस्तृत चर्चा की गई है।

वास्तुकलानिधि

वास्तुकलानिधि ग्रन्थ सौराष्ट्र देश के प्रख्यात आचार्य प्रभाशंकर सोमपुरा के द्वारा प्रणीत है। इस ग्रन्थ में भारतीय मदिरों की वास्तु-कला से सम्बन्धित अन्य भारतीय ग्रन्थों मे वर्णित विभिन्न प्रादेशिक शैलियों की चर्चा है। नागर, द्रविड, लातिन, भूमिज, फासना, वललभी आदि ऐसी कुल शैलियों की सख्या चौदह है पश्चिम भारत, अर्थात् गृजरात, राजस्थान और मेवाड मे, विशुद्ध नागरी शैली पायी जाती है। उत्तर भारत के प्रान्तों मे नागर शैली से उत्पन्न शैली पायी जाती है, और दक्षिण मे, कर्नाटक मे टोयशल शैली पायी जाती है तथा द्रविड शैली तमिल नाडू या दक्षिण भारतीय परम्परा में, परन्तु द्रविड शैली होयशल शैली से भिन्न है ऐसा इस ग्रन्थ में वर्णन है। आधुनिक युग मे, वास्तु-कला के प्रति दृष्टिकोण में जो ह्रास आया है, वह पश्चिमी शैलियों का अन्धानुकरण करने के कारण ही दिखता है। यह देखकर बडा दुख होता है कि शिक्षा के क्षेत्र मे भी यही उदासीनता दिखायी पडती है।

इसमे कोई सन्देह नही कि आधुनिक विज्ञान बडी तीज गति से प्रगति कर रहा है, और हमे उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलना चाहिए। इसके यह आशय कदापि नही है कि हम वास्तु-कला की अपनी देशज परम्पराओं को बिल्कुल भुला दे। इस ग्रन्थ मे वास्तु-कला की जिन शैलियों के अनुक्रम का विवरण और उनकी योजनाओं को प्रस्तुत किया गया है वे इस प्रकार हैं –

1. साघर
2. निरघर
3. प्रासाद
4. नागर
5. लातिन
6. वल्लभी
7. भूमिज
8. फासनाकार
9. द्रविड आदि।

इस ग्रन्थ में इन शैलियो की विशेष रूप से चर्चा की गयी है –

1. मध्य प्रदेश,
2. कलिंग,
3. आन्ध्र,
4. कर्नाटक की शैलियाँ।

इनके अतिरिक्त वास्तु कलानिधि ग्रन्थ में मन्दिर, पीठ, महापीठ, मडोवर, द्वार, जधा कलूसासन, तथा भारतीय वास्तु-कला की शैली मे निर्मित भवनों के अग्न उत्थापन का विवरण भी इस ग्रन्थ की एक विशेषता है।

वास्तुप्रदीप

यह ग्रन्थ 101 श्लोकों में निबद्ध है। मूल ग्रन्थ लुप्त हो चुका है, क्योंकि पाठ की दृष्टि से प्राप्त ग्रन्थ शुद्ध नहीं है। श्लोक कहीं-कहीं आधे अधूरे हैं कुछ स्थलों पर दो श्लोकों को मिलाकर एक श्लोक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। सम्भव है कि यह प्रतिलिपि कर्ता के प्रमाद से उत्पन्न दोष हो। ग्रन्थ के प्राप्त पाठ के निर्धारण हेतु उपर्युक्त ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र के ग्रन्थों का आश्रय लिया गया है। यह एक संकलन ग्रन्थ है, यह ग्रन्थ जनसामान्य के लिए उपयोगी बन सके इसके लिए कई ग्रन्थों के विषय वस्तु को इकट्ठा कर एक जगह संकलित किया गया है।

गृहवास्तुप्रदीप ग्रन्थ में भूमि चयन से लेकर गृह प्रवेश तक विधिवत विचार किया गया है। भूमि चयन से पूर्व जिस ग्राम नगर आदि में भूमि लेना हो उसके साथ गृह कर्ता कि ज्योतिष शास्त्रगत अनुकूलता आवश्यक मानी गई है, इसके लिए वर्ग एवं राशि के अनुसार ग्राम या नगर की दिशा एवं दशा पर भी विचार वर्ण के अनुसार भूमि का चयन, चयनित भूमि के निकट वृक्ष एवं कूपादि का विचार किया गया है। इस ग्रन्थ में निम्न बिंदुओं पर विस्तृत विचार किया गया है –

1. मृतिका परीक्षा
2. जल परीक्षा
3. भूमि शोधन
4. गृहारम्भ

इस प्रकार मृतिका परीक्षा की अन्यान्य विधियां, गृहप्रवेश का शुभ काल एवं गृह के वर्ग आदि का विचार विस्तृत रूप से किया गया है। इस ग्रन्थ में ज्योतिष पर विचार गृह प्रकरण में वर्ग मैत्री काकडी वर्ग एवं राशि के अनुसार दिशा विचार मास-नक्षत्र-पक्ष-तिथि-वार आदि का विचार वृषभ आदि चक्र शकुन विचार आयादि स्थिति एवं वेध के अनुसार द्वारों के फल, ग्रहों का परिवेश के अन्तर्गत गृह के चतुर्दिक वातावरण पर विचार आदि किया गया है। गृह के समीप वृक्ष आदि का भी विचार किया गया है। वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत भूमि का चयन, मृतिका परीक्षा, परीक्षण, भूमि स्वामी की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति के अनुसार ग्रह की स्थिति की लंबाई चौड़ाई पर विचार किया गया है।

वास्तुसार

सूत्रधारमण्डन विरचित वास्तुसार अत्यन्त प्राचीन एवं प्रमाणिक ग्रन्थ है। सूत्रधारमण्डन के द्वारा महाराणा कुंभा के समय में विश्व विख्यात चित्तौड़गढ़ की किला एवं कीर्ति स्तम्भ का निर्माण कराया गया था उनके द्वारा विरचित वास्तु सार में कौन सी दिशा में कौन से मुख का घर बनाना चाहिए, गृह निर्माण के मास फल, प्लव जमीन के ढलान का फल, किस वर्ण के लिए कौन से वर्ण की भूमि श्रेष्ठ रहेगी, गृहारम्भ के लिए वास्तु के नक्षत्र, छाया दोष, वेध दोष एवं आय के 8 प्रकार नक्षत्र की मूल राशि और नक्षत्र के गण अष्टकूट मिलान ताराचन्द्र मिलान कुंभ स्थापन 45 देवताओं का पद विभाग, मर्म वास्तु, नगर पुर एवं दुर्ग सहित ध्रुव आदि षोडश ग्रहों के छोटे बड़े विभाग, द्विशाल गृह, त्रिशालगृह, चतुः शाल, राज भवन, हस्ती शाल, राज गृहों के नाम, राज्य सिंहासन, छत्र, शैया, उद्यान का प्रमाण, चार प्रकार के प्रवेश, वेध दोष, गृह प्रवेश शकुन अपशकुन राज भवन के 15 गवाक्षों के स्वरूप आदि की विस्तृत चर्चा इस ग्रन्थ में प्राप्त होती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ रत्न में वास्तुशास्त्र के सभी प्रायोगिक विषयों का समावेश किया गया है।

बृहद्वास्तुमाला

वास्तुशास्त्र के प्रारंभिक विषयों को लेकर यह एक संग्रह ग्रन्थ है। इसमें गृह निर्माण सम्बन्धी बातों को बहुत ही बोधगम्य में तरीके से आचार्य ने प्रस्तुत किया है। प्राचीन आचार्य परम्परा के विभिन्न विषयों को लेकर जैसे जलाशय निर्माण, गजपृष्ठ, कूर्मपृष्ठ, पिण्ड निर्माण, ऋषियों के मत से दकार्गल, वृक्षायुर्वेद, अहिवल चक्र, सिद्ध पिण्ड और पिण्ड सारिणी शिलान्यास चरणी विचार, अनेक प्रकार के चक्र, देव मन्दिर निर्माण आदि का विचार इस ग्रन्थ में किया गया है। वास्तुशास्त्र के अनेक विषयों को यहां पर आचार्य ने विभिन्न आचार्यों के मतों को स्थापित किया है ग्रन्थकार ने ग्रन्थ में रामदैवज्ञ, वशिष्ठ, नारायण भट्ट, कल्पद्रुम, नारद, आचार्य वराहमिहिर इत्यादि के मतों को यथा-यथा स्थान पर स्थापित किया है।

राजवल्लभ वास्तुशास्त्र

यह ग्रन्थ सूत्रधारमण्डन द्वारा लिखा गया हे जिसको कुंभलगढ जैसे अजेय दुर्ग के स्थापत्य शास्त्री होने का गौरव रहा है। महाराणा कुम्भा के दरबार के इस सूत्रधार के कुल ने मेवाड में सोमपुरा स्थापत्य की नींव डाली और उस दौर में जबकि भारतीय कला और स्थापत्य पर विदेशी प्रभाव पड रहा था, भारतीय शिल्प ग्रन्थों की रचना कर लक्षणों को अद्भुत ढंग से बचाने में पूरी ताकत लगा दी। राजवल्लभ के अतिरिक्त उसकी देवता मूर्तिप्रकरणम्, प्रासादमण्डनम्, रूपमण्डनम्, वास्तुमण्डनम्, वास्तुशास्त्रम्, वास्तुसार मण्डनम़, आयतत्वम् आदि ग्रन्थ हैं। राजवल्लभ वास्तुशास्त्रम़ ग्रन्थ मूलतः कुंभलगढ में लिखा गया है। मण्डन की

मौलिक रचना है। चौदहअध्यायों में कुल 1472 श्लोक हैं। इसमें वास्तु के विभिन्न अंगों सहित ज्योतिष, शकुन, गणित आदि पर पर्याप्त विचार मिलता है। यह ग्रन्थ भारत में पहली बार 1854 में प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थ की यह विशेषता रही कि देश में अनेक स्थानों पर वास्तु विज्ञान के अध्येताओं ने उसको पाठयक्रम में शामिल कर लिया।

इसके अतिरिक्त कई अन्य प्रमुख ग्रन्थ भी मानक ग्रन्थ की श्रेणी में हैं।

अभ्यास प्रश्न –1

1. बृहत्संहिता ग्रन्थ किसके द्वारा विरचित है

   अ. सूत्रधारमण्डन ब. अपराजित स. वाराहमिहिर द. नीलकण्ठ

2. विश्वकर्मा के मानस पुत्र थे -

   अ. अपराजित ब. सूत्रधारमण्डन स. वाराहमिहिर द. कोई नही

3. मानसार ग्रन्थ में कितने अध्याय हैं -

   अ. 78 ब. 70 स. 90 द.80

4. मुहूर्तचिन्तामणि के रचयिता हैं -

   अ. भुवनदेव ब. टोडरमल्ल स. रामदैवज्ञ द. गौरकर्मा

अभ्यास प्रश्न –2

निम्नलिखित में से सत्य असत्य का निर्धारण कीजिये

1. विश्वकर्मा के छः पुत्र थे। ( )
2. सूत्रधारमण्डन राजस्थान के मेवाड़ के स्थपति थे ( )
3. मनुष्यालय चन्द्रिका आचार्य नीलकंठ कृत नही है ( )
4. समरांगण सूत्रधार ग्रन्थ में 88 अध्याय हैं ( )

अभ्यास प्रश्न –3

रिक्तस्थान की पूर्ति कीजिये

1. वास्तु प्रदीप ग्रन्थ में .... श्लोक हैं
2. बृहद्वास्तुमाला एक प्रकार का .... ग्रन्थ है
3. राजवल्लभ वास्तुशास्त्र में ....अध्याय हैं।
4. अपराजित पृच्छा एक ....ग्रन्थ है।

4.4 सारांश

इस प्रकार आप ने इस इकाई के अध्ययन के बाद समझा कि वास्तुशास्त्र वेदों से ब्राह्मण आरण्यक उपनिषद काल से होते हुए आगम और पौराणिक काल में आकर अत्यधिक फलीभूत होते हुए विश्वकर्मा प्रकाश और मयमतम उत्तर और दक्षिण परम्परा के स्वतन्त्र ग्रन्थ वास्तुशास्त्र पर प्राप्त हुए। जिनकी परम्परायें पल्लवित और पुष्पित हुयी। इसके बाद विभिन्न प्रकार के विद्वानों ने मूर्तिकला-चित्रकल- प्रसाद-भवन आदि पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे। मानव मात्र के कल्याण अर्थ जीवन में सुख शांति की कामना चाहने वाला मानव अपने गृह के निर्माण के समय किन किन बातों का ध्यान रखें, एवं गृह में वृक्ष रोपने से लेकर राजा के महल तक का निर्माण इन्हीं मानक ग्रन्थों के आधार पर हुआ। क्योंकि प्राचीन परम्परा के जितने भी राजमहल दुर्ग दिखते हैं उन सब में इन ग्रन्थों में निर्दिष्ट नियमों को ध्यान में रखकर शिल्पियों के द्वारा एवं

स्थपतियों के द्वारा इन विषयों का निर्माण किया गया है।

4.5 शब्दावली

परिखा – नगर के चारो ओर बनायी जाने वाली सुरक्षा दीवार जिसे परिखा या परकोटा कहते हैं।

स्थपति – वास्तुशास्त्र के शिल्प पक्ष का विद्वान्

प्लव – ढलान

मृत्तिका परीक्षा – भूमि परीक्षण

वर्ण हेतु निवास – चारो वर्णों के लिये निवास

सिरमौर – श्रेष्ठ

4.6 अभ्यास प्रश्नों की उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न –1

1. स. वाराहमिहिर
2. अ. अपराजित
3. अ. 78
4. स. रामदैवज्ञ

अभ्यास प्रश्न –2

1. असत्य
2. सत्य
3. असत्य
4. सत्य

अभ्यास प्रश्न –3

1. 101
2. संग्रह
3. 14
4. संवाद

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भारतीय वास्तुशास्त्र
वास्तुशास्त्र का इतिहास
वास्तु रत्नाकर
वृहद्वास्तुमाला
वृहत्संहिता

इकाई 5 प्राचीन भारतीय वास्तुकला

इकाई की संरचना

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 प्राचीन भारतीय वास्तुकला

5.3 प्राचीन भारतीय वास्तु परम्परा

5.4 सारांश

5.5 शब्दावली

5.6 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5.0 उद्देश्य

प्राचीन भारतीय वास्तुकला नामक इस इकाई के अध्ययन के बाद आप बता पायेंगे कि :

- भारतीय वास्तुशास्त्र की परम्परा कितनी प्राचीन है ?
- इस शास्त्र का विकसित रूप किन-किन देशो तक फैला हुआ था ?
- भारतीय वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत किन-किन कलाओं का समावेश था ?
- वास्तुपरम्परा अन्य प्राचीन भारतीय कलाओं की तरह एक कला कैसे बना ?
- इस वास्तुकला के परिवर्तित रूप क्या थे ?
- अपने प्राचीन परम्परागत विद्याओं को जानकर इनके बारे में जानने की और जिज्ञासा होगी ?

5.1 प्रस्तावना

जैसा कि पिछली इकाइयों के अद्ययन से आप ने समझा कि प्राचीन भारतीय वास्तु से तात्पर्य केवल साधारण मानव के रहने योग्य भवन ही नहीं, अपितु राजभवन, प्रासाद, ग्राम, नगर, रथ्या, मार्ग, प्रकार, परिखा, मन्दिर अथवा देवालय, मण्डप, यज्ञ-वेदी, सभागृह, कूप, तालाब, वापी, स्तूप आदि उन सभी निर्माणों से है, जो मानव के रहने, उपयोग करने एवं उसके अभिष्टजनों तथा देवों के निवास स्थान आदि के रूप में हैं। अत: वास्तु का अर्थ केवल गृह न होकर 'गृह आदि' हो गया है। तदनुसार वास्तुशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय मानवगृहों, प्राकारों, परिखाओं, देव-मन्दिरों, मण्डपों, बान्धों, सेतुओं एवं तड़ागों अर्थात् प्रत्येक प्रकार के भवन, क्षेत्र, कूप, तालाब, वापी, वाटिका आदि की रचना के उपायों तथा साधनों की व्याख्या करना है। हमने पिछले इकाई में अध्ययन किया कि मानसार, मयमत आदि समराङ्गणसूत्रधार के पूर्ववर्ती तथा शिल्परत्न आदि परवर्ती वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तु का अर्थ तथा उसका क्षेत्र,

भवन, प्रासाद, राजमहल, देव-मन्दिरों, देव-प्रतिमाओं और पुर तक ही सीमित है, परन्तु इसके आगे के काल में समराङ्गणसूत्रधार में पुर, निवास, सभा, वेश्म तथा आसन आदि के अतिरिक्त देश के वर्णन से इस शास्त्र का विषय आगे बढ़ जाता है। इस शास्त्र की परम्परा या प्राचीनता इसी बात से सिद्ध हो सकती है कि ऋग्वेद में सर्वप्रथम वास्तु शब्द का प्रयोग भवन के अर्थ में आया है, तथा जो शास्त्र भवन सम्बन्धी व्याख्या करते हैं, उन्हें वास्तुशास्त्र कहा जाता है तथा प्राचीन काल में अधर्ववेद के उपवेद के रूप में स्थापत्यवेद भी था। बाद में स्थापत्यशास्त्र, वास्तुशास्त्र और शिल्पशास्त्र ये तीनों पर्यायवाची के रूप में व्यवहृत हुए। ऋग्वेद, जिसे संसार के प्राचीनतम साहित्य होने का गौरव प्राप्त है, उसमें वास्तु शब्द का प्रयोग भवन के अर्थ में हुआ है और समराङ्गणसूत्रधार में वास्तु के अन्तर्गत समस्त विश्व का चिन्तन हुआ है। आदिकाल में शिकारियों और मछुओं ने पहाड़ी गुफाओं में शरण ली होगी। ये गुफाएँ ही शायद मानव निवास के प्राचीनतम रूप रहे होंगे। किसान वृक्षों के झुरमुटों में रहते और सरकंड़े, घास आदि के झोंपड़े बनाते रहे होंगे। अपने पशुओं के साथ घूमनेवाले चरवाहे चमड़े के खोलों में रहते रहे होंगे और उन्हें बांसों या लट्ठों से ऊँचा करके डेरे बनाते रहे होंगे। इन्हीं गुफाओं और डेरों में बाद के वास्तुविकास के बीज मिलते हैं। मिस्र के पुराने मकानों के नमूने साक्षी हैं कि अनगढ़ द्वारों चट्टानी दीवारों और छतों वाली प्राकृतिक गुफाओं से ही पत्थर की दीवारें उठाने और उन पर पटियों की छत रखने का विचार उत्पन्न हुआ। झुरमुटों के अनुरूप झोंपड़े बने, जिनकी दीवारें परस्पर सटाकर गाड़ी हुई शाखाओं से और छत घास से बनाई गई। इस प्रकार के एकमंजिले और दुमंजिले झोंपड़े अब भी आदिवासी बनाते हैं। चमड़े के डेरे भी अरब के बद्दू और अन्य घुमंतू जातियाँ काम में लाती हैं।

समराङ्गणसूत्रधार ग्रन्थ के वास्तुशास्त्र-विषय-वर्ग नामक अध्याय में महासमा (पृथ्वी) का आगमन, सौरमण्डल की गतिविधि, सम्पूर्ण पृथ्वी का निवेशोपक्रम, वसति-योग्यता, वास-स्थान, जनपद-निवेश और सृष्टि-विभाग एवं भूगोलादि का वर्णन हुआ है। समराङ्गणसूत्रधार जैसे विशुद्ध, परिमार्जित एवं परिष्कृत वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ में महासमा का आगमन महदादिसर्ग (सृष्टि-वर्णन) और भुवन-कोश (भूगोलवर्णन) विश्व-योजना की ओर सङ्केत करते हैं। इस प्रकार भारतीय वास्तुशास्त्र का विषय साधारण या विशिष्ट भवनों, प्रासादों, ग्रामों, खेटकों, पत्तनों, पुटभेदनों एवं पुरों तक ही सीमित न रहकर जनपद, जनपद-समूह राष्ट्र और राष्ट्र-समूह भूमण्डल तक विस्तृत हो गया है। जब समस्त भूमण्डल और सौरमण्डल वास्तु का विषय है तो वास्तु की व्याख्या में वास्तु को भवन-निर्माण की कोठरी में बन्द कर देना बड़ा अभिशाप है। भारतीय स्थापत्य के अनुसार वास्तु-विनियोजना समस्त भूमण्डल को लेकर चलती है। भारतीय दृष्टिकोण से स्थापत्य का सम्पूर्ण भूमण्डल ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व ही प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि भारतीय स्थापत्य में समस्त विश्व का चिन्तन है। कोई भी निर्मित वास्तु है, कोई भी योजना वास्तु है। अत: कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय वास्तु परम्परा का बड़ा ही व्यापक दृष्टिकोण है।

5.2 प्राचीन भारतीय वास्तु कला

भारतीय वास्तुकला की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। साधारणतया वासस्थान या निवासस्थान को वास्तु कहते हैं एवं तत्सम्बन्धी कला को 'वास्तुकला' कहा जाता है। वास्तुकला किसी स्थान को मानव के लिए वास-योग्य बनाने की कला है। भवनों का विन्यास, आकलन और रचना तथा परिवर्तनशील समय की तकनीक एवं रुचि के अनुसार मानव की आवश्यकताओं

को संतुष्ट करने योग्य सभी प्रकार के तर्कसङ्गत निर्माण की कला, विज्ञान तथा तकनीक का सम्मिश्रण वास्तुकला की परिभाषा में आता है। वास्तुकला ललितकला की वह शाखा रही है जिसका उद्देश्य उपयोगिता की दृष्टि से ऐसे उत्तम भवनों का निर्माण करना है जिनके पर्यावरण सुसंस्कृत एवं कलात्मक रुचि के लिए अत्यन्त प्रिय, सौंदर्य-भावना के पोषक और आनन्दवर्धक हों। प्रकृति, बुद्धि और रुचि के द्वारा निर्धारित एवं नियमित कतिपय सिद्धान्तों और अनुपातों के अनुसार रचना करना इस कला का सम्बद्ध अङ्ग है। पूर्व निर्धारित योजना को साकार बनाने के साथ-साथ उसे ऐसे उपयुक्त ढंग से सुदृढ़ करना उसे अधिकतम सुविधाओं के साथ उसमें रोचकता, सौन्दर्य, महानता और एकता की सृष्टि हो सके, यही वास्तुकौशल है। प्रारम्भिक अवस्था में वास्तुकला का स्थान मानव की सीमित प्रयोजनों के लिए आवश्यक व्यवसायों में प्रायः उसे एक प्रकार से रक्षा-स्थान प्रदान करने के लिए होता है, परन्तु वास्तु-कृतियों में उनके गर्व, प्रतिष्ठा, महत्त्वाकाङ्क्षा तथा आध्यात्मिकता की प्रकृति पूर्णतया अभिव्यक्त होती है तो वे वास्तु-कृतियाँ मानवीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं।

प्राचीन काल में वास्तुकला सभी कलाओं की जननी कही जाती थी, किन्तु वृत्ति के परिवर्तन के साथ और सम्बद्ध व्यवसायों के भाग लेने पर यह समावेशक संरक्षण की मुहर अब नहीं रही। वास्तुकला को पुरातनकालीन सामाजिक स्थिति को प्रकाश में लाने वाला मुद्रणालय भी कहा गया है परन्तु यह वहीं तक उचित जान पड़ता है जहाँ तक सामाजिक एवं अन्य उपलब्धियों का प्रभाव है। वास्तुकला के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि यह भवनों के अलङ्करण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जहाँ तक ऐतिहासिक वास्तुकला का सम्बन्ध है, यह अंशत:सत्य है। पुनः वास्तुकला को सभ्यता का साँचा भी कहा गया है। वास्तुकला के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनतम समय में इसका स्वरूप कुछ और ही था। यह वास्तुकला युगों के विकासक्रम में विकसी, ढली और मानव की परिवर्तनशील आवश्यकताओं उसकी सुरक्षा, कार्य, धर्म, आनन्द और अन्य युगप्रवर्तक चिन्हों के अनुरूप बनी।

5.3 प्राचीन भारतीय वास्तु -परम्परा

भारतवर्ष उन समृद्ध देशों में से है, जहाँ पर सांस्कृतिक परम्पराएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। अत एव पुरातन कला-परम्परा भी इतनी ही अधिक प्राचीन है, जिनका ज्ञान हम प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन और पुरातत्त्व-विज्ञान के अन्वेषणों से ही प्राप्त कर सकते हैं। संसार के प्राचीनतम साहित्य वेदों के अनुशीलन से विदित होता है कि आज सुसंस्कृत एवं सभ्य राष्ट्र जिन कलाओं को जानते हैं उनमें से प्रमुख कलाएं जैसे-बुनाई, बढ़ई, लोहारी तथा भैषज्य-कला आदि वैदिक युग में प्रसिद्ध थीं और वैदिकयुग में जिन कलाओं को प्रसिद्धि मिली थी, उनमें वास्तुकला भी थी। इसी प्रकार यदि हम सिन्धु-घाटी की सभ्यता से सम्बद्ध उन सांस्कृतिक प्राचीरों पर दृष्टिपात करें, जिनका अस्तित्व लगभग ई० पू० तीन हजार वर्ष माना जाता है तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है, उस काल में भी वास्तु, मूर्ति, चित्र, भाण्ड-निर्माण और लोहवस्तु-रचना आदि अनेक भौतिक कलाएँ प्रसिद्ध थीं।

वास्तु-विद्या के ग्रन्थों का बिहंगावलोकन मे हम देखेंगे कि बहुत से ग्रन्थ शिल्प-शास्त्र के नाम से उल्लिखित किये गये है। 'शिल्प' शब्द का अर्थ सुन्दर एवं उपयोगी दोनो 'कला' है; परन्तु 'शिल्प-शास्त्र' शब्द इन प्रयो मे वास्तुशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। परम्परा से प्रचलित जिन 64 कलाओं का इस देश में अति प्राचीन समय से उल्लेख एवं प्रचार मिलता है, उनमे वास्तु-

विद्या को एक कला में परिगणित किया गया है। सम्भवतः यह परम्परा उम सुदूर अतीत की बात है जब वास्तु-कला का पूर्ण विकास इस देश में नहीं हो पाया था। शुक्राचार्य के समय में वास्तु-विद्या का विस्तार इतना व्यापक हो गया था कि वास्तुकला के महाकलेवर में सभी प्रधान कलाएँ गतार्ये हो जाती थी। वैसे तो वास्तुशास्त्र का प्रधान विषय भवन-कला, यन्त्रकला, काष्ठकला, भूपणकला, आमन, सिहासन आदि विधान तथा चित्रकला आदि है । वास्तु कला में सभी प्रकार के भवन-धार्मिक, आवासयोग्य, सेनायोग्य तथा उनके उप-भवन एव उपामो, प्रत्यगो आदि का प्रथम स्थान है। पुरनिवेश, उद्यानरचमा, पण्यस्थानो, पोतस्थानो आदि का निर्माण, मार्गयोजना, सेतुविधान, रबिधान, द्वारनिवेश, तोरणविनिवेश, परिखा-खनन, वप्रनिर्माण, प्राकार-विधान, जलश्रम-योजना, भित्तिरचना, सोपान-निर्माण भी वास्तु शास्त्र के प्रधान अग है। तीसरे, वास्तु-कला में भवन-उपस्कर अर्थात् फर्नीचर, जैसे शय्या, मजूषा, त्रिविष्टब्ध, पजर, नीड, चटाई, यान, दीप एव मार्ग-दीप-स्तम्भ आदि की रचना भी सम्मिलित है। चौथे, वास्तुकला मे भूषण रचना एवं वस्त्र-रचना भी सम्मिलित है। देवभूषणों में मोलि, मुकुट, शिरस्त्रक आदि भूषण, उत्तरीय आदि वस्त्र भी सम्मिलत है। अतः जैसा पहले ही संकेत किया जा चुका है, मूर्ति निर्माण कला वास्तुकला की अभिन्न सहचरी है। लिग, देवमूर्तियों, ऋषि-मुनि आदि की प्रतिमाएँ तथा गरु इस आदि के चित्रो का रचनाकौशल इस कला का अभिन्न अंग है। वास्तु रचना भवन निर्माण अथवा पुरनिवेश के प्रारम्भिक कृत्यों, जैसे भूमिचयन, भूपरीक्षा, शकुस्थापन, दिक्साम्मुख्य एवं आयादि-निर्णय भी वास्तु शास्त्र के अग है । परन्तु प्रकृत प्रथ के लेखक की ऐतिहासिक एव तुलनात्मक अध्ययन-जन्य कला । वास्तु-शास्त्र के व्यापक क्षेत्र में शिल्प-शास्त्र चित्र शास्त्र प्रचलित है । व्यवहारत. प्रथम दो वास्तु-शास्त्र के परम्परागत विषय है। तीसरा शिल्प-शास्त्र का विषय है तथा पौषा चित्र-शास्त्र का । 'समरांगणसूत्रधार' नामक वास्तु-शास्त्र ही ऐसा एकमात्र ग्रन्थ है जिसमे यन्त्र कला भी वास्तु-शास्त्र का विषय मानी गयी है, यत कोई भी कृति वास्तु है। चित्रकला भी एक दो ही वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित है। इस प्रकार प्राचीन भारतीय कला को पांच भागो में विभाजित किया जा सकता है –

1. पुर निवेश कला
2 . भवन कला
3 . मूर्ति कला
4. चित्र कला
5. यन्त्र निर्माण

1. पुर- निवेश

पुर निवेश य नगर निवेश से सम्बन्ध सैद्धान्तिक पक्ष का ज्ञान वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों से ही प्राप्त होता है परन्तु प्राचीन काल में शास्त्र की मर्यादा के अनुरूप ही नगर रचना होती थी या नहीं इसका अध्ययन आवश्यक हो जता है प्राचीन भारत में नगरो का निवेश जीवन को सुव्यवस्थित सुरक्षित एवं सुविधामय बनाने के लिए किया जाता था मनुष्य की भिन्न भिन्न आवश्यकताए सभ्यता के साथ साथ बढ़ने लगी और उन आवश्यकताओ की सहज पूर्ति सुदूर गाँव में रहने वाले व्यापारी शिल्पी कारीगर आदि की कमी को दूर करने के लिए गाँव य नगर के प्रमुख लोग इन्हें इकट्ठे करने लगे, शशक वर्ग अपने राज्य में विद्वानों, शिल्पियों गुणवानो को स्थान देने देने लगे इस तरह छोटे गाँव बड़े गाँवो में एवं बड़े गाँव नगर में परिवर्तित हो उठे।

प्राचीन भारत के प्रमुख वास्तुशास्त्रीय नगर

शाकल

यह उत्तर-पश्चिम भारत का एक प्रमुख नगर था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसे 'शाकल', बौद्ध साहित्य में 'सांगल' और यूनानी लेखों में 'सङ्गल' कहा गया है। यह रावी या इरावती के पश्चिम में आपगा नदी के किनारे (वर्तमान अयक) स्थित थी। महाभारत में इसे शमीपीलु और करीलों के वन के मध्य में स्थित बताया गया है।' इसके चारों ओर एक ऊँची दीवाल तथा गहरी खाई थी। यूनानी सैनिकों से जान बचाने के लिए कुछ नागरिकों ने इसे तैर कर पार किया था। इससे यह स्पष्ट है कि तीन प्रकार की परिखाओं में से यह उदक- परिखा थी। एरियन ने इस परिखा को झील कहा है। यहाँ आराम, उद्यान तथा तड़ाग आदि निर्मित थे। नगर के भीतर राजमार्ग, नालियाँ और चौराहों का भी निर्माण किया गया था। शाकल नगर वर्तमान में स्यालकोट (पाकिस्तान) के रूप में जाना जा सकता है।

पुष्कलावती

पुष्कलावती का दूसरा नाम पुष्करावती भी था। यह आधुनिक पेशावर (पाकिस्तान) से लगभग 30 कि०मी० की दूरी पर सिन्धु नदी के पश्चिम में स्थित था। । यहाँ के नागरिक सुखी एवं सम्पन्न थे। चीनी यात्री के विवरणानुसार इस नगर की परिधि लगभग 3 मील थी। इसके उपकण्ठ पर अशोक ने एक स्तूप का निर्माण करवाया था। इस नगर की पहचान आधुनिक चारसद्दा (चाषद्दा) से की जा सकती है, जो कि सुवास्तु एवं कुभा के संगम पर स्थित है।

तक्षशिला

तक्षशिला सिन्धु नदी के पूर्व में बसा हुआ उत्तर-पश्चिम भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। यह गांधार की प्राचीन राजधानी थी। रामायण के अनुसार इस नगर की स्थापना भरत ने की थी, जिसका राजा उन्हीं का पुत्र तक्ष था। ई०पू० 50 में इसके चारों ओर एक पक्की दीवार खड़ी की गई। इसमें पत्थर चुनकर लगाये गये। इसकी लम्बाई लगभग 33 मील तथा चौड़ाई 15 फिट से लेकर 296 फिट तक थी। दीवार में यथास्थान तीन मझिलों वाले बुर्ज (अट्टालक) बने हुए थे। बुर्ज की दूसरी और तीसरी मंजिल पर नगर की सुरक्षा के लिए सैनिक रहा करते थे। बुर्ज पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई थी। दीवार में प्रत्येक दिशा में एक बड़ा द्वार बना हुआ था। इन द्वारों में उत्तर दिशा में स्थित द्वार, निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसका निर्माण ऐसे स्थान पर किया गया था, जहाँ से किसी आकस्मिक आक्रमण को सरलता से रोका जा सके।

प्रवरपुर

प्रवरपुर नगर की पहचान आधुनिक श्रीनगर (जम्मू-कश्मीर की ग्रीष्मकालीन राजधानी) से की जाती है। इसका निर्माण प्रवरसेन द्वितीय ने करवाया था। यह कश्मीर की राजधानी के रूप में विख्यात था । यह मैदान के अर्द्धचन्द्राकार पर्वत से 2 मील की दूरी पर बसा हुआ है। यह नगर ताजे पानी वाले सरोवर के तट पर स्थित था। नगर के भवन अधिकतर दो तथा तिमञ्जले हैं, जो कि लकड़ी के बने थे। कुछ पुराने भवन तथा प्राय: पत्थरों से निर्मित मन्दिर टूटे हुए हैं। नगर के बीच से झेलम नदी बहती है। नदी के किनारे पर स्थित प्राय: सभी घरों के साथ वाटिकाएँ हैं अर्थात् नगर में वाटिका-गृहों की अधिकता है। वे गर्मी तथा वसन्त ऋतु में अत्यन्त रुचिकर लगते हैं। नगर के भीतर भाग के बहुत से घरों में वाटिकाएँ हैं। राजतरिङ्गिणी से यह भी विदित

होता है कि प्रवरपुर में भट्टरक तथा सङ्ग्रामकक्षेत्र आदि कुछ मठ बने हुए थे।

थानेश्वर

इस नगर का प्राचीन नाम स्थाण्वीश्वर था। यह आधुनिक दिल्ली तथा प्राचीन इन्द्रप्रस्थ नगर के उत्तर में अम्बाला तथा करनाल के मध्य में स्थित था। महाभारत में इसे सरस्वती तथा दृषद्वती नामक नदियों के बीच में स्थित बताया गया है।" बाणभट्ट ने हर्षचरित में इस नगर का भव्य वर्णन किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार नगर के सौन्दर्य को देखकर ऐसा आभास होता था, मानो वह स्वर्ग का एक भाग हो।" इसका वैभव कुबेर की नगरी अलका के समान था। नगर में अनेक शिक्षा संस्थान, सङ्गीतशाला, मठ एवं मन्दिर विद्यमान थे। थानेश्वर नगर छठी शताब्दी के अन्त में पुष्यभूति वंश की राजधानी बन गया था। इसके समीपस्थ भू-भाग पर तराइन के दो तथा पानीपत के तीन युद्ध हुए, जो इसके महत्त्व के सूचक हैं।

इन्द्रप्रस्थ

इस नगर का निर्माण पाण्डवों ने खाण्डववन को जलाकर किया था। यह कुरुजनपद की राजधानी थी। महाभारतकाल में यह एक भव्य, सुव्यवस्थित और वैभव-सम्पन्न नगर था। इन्द्रप्रस्थ का क्षेत्रफल 21 मील था।' यह नगर कई परिखाओं से घिरा हुआ था। इसके चारों ओर उच्च प्राकार विद्यमान थे।' प्राकार में अट्टालक तथा द्वार (गोपुर) बने हुए थे। प्राकार पर विध्वंसकारी शस्त्र एकत्रित थे।' धवल एवं उत्तु भवनों के कारण इसकी शोभा अन्वेक्षणीय थी

हस्तिनापुर

हस्तिन् नामक व्यक्ति ने भागीरथी के तट पर इस नगर को बसाया था। इसके प्राकार में गोपुर बने हुए थे, जो कि बहुत ऊँचे थे। नगर का आन्तरिक भाग राजमार्गों के द्वारा विभक्त था। मार्गों के दोनों ओर हर्म्य, प्रासाद तथा दुकानें सुशोभित थीं। नगर के मध्यभाग में राजहमहल का निर्माण किया गया था। यहाँ पर अनेक सरोवर तथा उद्यान भी विद्यमान थे। यहाँ के नागरिक वेदपरायण तथा यज्ञादि में श्रद्धा रखते थे। धन-धान्य से सम्पन्न तथा धर्मनिरत लोगों से युक्त इस नगर की शोभा इन्द्रलोक के समान थी।

मथुरा

पुराणों में मथुरा नगरी को भारत की सात मोक्षप्रदायिका नगरियों में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसकी स्थापना का श्रेय शत्रुघ्न को दिया जाता है। शत्रुघ्न ने मधु नामक राक्षस को मारकर तथा उस सघन वन को काटकर इस नगर को बसाया था। हरिवंश पुराण में मथुरा को अर्द्धचन्द्राकार एवं यमुना के तट पर स्थित बताया गया है। मत्स्यपुराण में अर्द्धचन्द्राकार नगर की प्रशंसा की गई है। नगरी के चारों ओर गहरी परिखा, अट्टालकों से युक्त प्राकार तथा उपवन आदि स्थित थे। वहाँ के नागरिक सम्पन्न थे।` कालिदास ने रघुवंश में मथुरा नगरी के सम्बन्ध में लिखा है कि-पौरुषयुक्त शत्रुघ्न द्वारा निर्मित कालिन्दीतटवर्तिनी मथुरा परमाकर्षक थी।

कान्यकुब्ज

कान्यकुब्ज भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था। इस नगर के संस्थापक कुश के पुत्र कुशनाभ थे। रामायण के अनुसार कान्यकुब्ज विश्वामित्र की जन्मभूमि थी।" भागवतपुराण में इसे अजामिल की नगरी कहा गया है। गङ्गा के तट पर निर्मित यह नगर तीन मील लम्बा तथा एक मील चौड़ा

था। नगर के चतुर्दिक परिखा एवं सुदृढ़ प्राकार स्थित थे और उसके भीतर अनेक उपवन, वितान, सरोवर एवं अट्टालिकाएँ विद्यमान थीं। नगर के प्रधान बाजार में सुदूर देश में विक्रय करने के लिए संख्यातीत भाण्ड केन्द्रित किये गये थे। नगरवासियों का चरित्र-सङ्गठन उच्च कोटि का था। स्थान-स्थान पर मन्दिर सुशोभित थे।

प्रयाग

प्रयाग शब्द की उत्पत्ति यज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'यज्ञ करना' है। प्रयाग का वर्णन रामायण, महाभारत तथा पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। महाभारत के अनुसार यहाँ पर ब्रह्मा ने यज्ञ किया था, अत: इसका नाम प्रयाग हुआ । प्रयाग को लोकत्रय में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ कहा है। सभी देव मिलकर इस तीर्थ की वंदना करते हैं, प्रयाग की भूमि को देवभूमि कहा गया है । प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में प्रयाग की सीमाओं को प्रयाग-मण्डल कहा गया है। मत्स्यपुराण के अनुसार प्रयाग-मण्डल पाँच योजन तक विस्तीर्ण था।

अयोध्या

अयोध्या कोशल राज्य के इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की राजधानी प्राचीन नगरी थी। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार यह नगरी बारह योजन लम्बी तथा तीन योजन चौड़ी था। इसके चतुर्दिक एक गहरी परिखा भी स्थित थी और सुदृढ़ किलेबन्दी के कारण यह शत्रुओं के लिए अगम्य थी। इसके चारों ओर सालवृक्षों की एक चहारदीवारी थी। नगर के प्राकार में कपाटयुक्त तोरणद्वार एवं अग्रिम सुरक्षा की दृष्टि से इसकी ऊँचाई पर यन्त्र, अस्त्र-शस्त्र और प्रक्षेपास्त्र रखे गये थे। इसके भीतरी भाग में चौड़े राजमार्ग एक-दूसरे को समकोण पर काटते थे। नगरी में स्थित विभिन्न प्रकार के रत्नों से निर्मित एवं पर्वतों की भाँति उन्नत अट्टालिकाएँ, कूटागार और विभिन्न प्रकार की चित्रकारियों से भक्त भवन जिन पर सोने का पानी चढ़ाया गया था, इसकी शोभा को द्विगुणित कर देते थे। यहाँ पर गजशाला, अश्वशाला, गोशाला आदि एवं सभी प्रकार के शिल्पियों की प्रयोगशालाएँ विद्यमान थी। पतञ्जलि ने साकेत (अयोध्या) को 'सुकोशला' कहते हुए इसके प्राकार के आठ अवयवों का उल्लेख किया है।

अहिच्छत्र

अहिच्छत्र उत्तर पाञ्जाल जनपद की राजधानी थी। इस बात की पुष्टि महाभारत से होती है। वर्तमान बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद तथा आस-पास के जिले एवं उत्तरप्रदेश का मध्यवर्ती दोआब पाञ्चाल-प्रदेश कहलाता था और अहिच्छत्र बरेली जिले में स्थित रामनगर का प्राचीन नाम था। अहिच्छत्र की खुदाई से प्राप्त सिक्के तथा मृण्मयी मूर्तियाँ इसकी प्राचीनता, ऐतिहासिकता एवं सांस्कृतिक महत्त्व की स्थापना करते हैं। प्राचीन किले के ध्वंसावशेष, जो मीलों में बिखरे पड़े हैं, इन्हें पाण्डु का किला कहा जाता है, इसे देखने से पता चलता है कि इस किले में 34 बुर्ज (अट्टलक) थे।

श्रावस्ती

मत्स्यपुराण में इस नगर के संस्थापक का श्रावस्त नामक राजा बताया गया है। वायुपुराण से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती कोसल की राजधानी थी, जिसका शासक लव था। प्राचीन ग्रन्थों में इस नगर के परिखा, प्राकार तथा नगरद्वार आदि के यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि नगर के द्वार बहुत चौड़े थे। यथा-मज्झिम-निकाय में कोसल-नरेश प्रसेनजित को

पुण्डरीक नामक गज-पृष्ठ पर बैठकर बाहर निकलते हुए प्रदर्शित किया गया है।' यहाँ के नागरिक हाथी, घोड़े तथा पालकी पर सवार होकर राजमार्गों पर निकलते थे।' इस ग्रन्थ में प्रसेनजित के प्रासाद का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ प्रधान नगर-द्वारों की ओर चौड़े राजमार्ग जाते थे।' था, जिसे अनाथ पिण्डिक-आराम कहा जाता था।' इम नगर में विश्राम-गृह, कुठार, कूप, तालाब तथा चबूतरे आदि का निर्माण हुआ था।

वाराणसी

आधुनिक काल में काशी और वाराणसी एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं, परन्तु प्राचीन काल में दोनों पृथक्-पृथक् रूप में जाने जाते थे। काशी कोसल की तरह एक महा-जनपद थी और वाराणसी इसकी राजधानी थी। जातक ग्रन्थों में वाराणसी के सुरुन्धन, सुदस्सन, बह्मावर्द्धन (ब्रह्मवड्ढज), पुष्पवती, रम्म (रम्यगनर) तथा मोलिनी आदि नाम उपलब्ध होते हैं। वाराणसी के चारों ओर सुरक्षा के लिए एक परिखा निर्मित थी।" इसके अतिरिक्त यह नगर एक उच्च प्राकार से परिवेष्टित था। प्राकार के चतुर्दिक चार दरवाजे लगे हुए थे। यदि यात्री रात्रि-काल में देर से आते थे, तो उन्हें दरवाजों के सामने अन्दर प्रवेश करने के लिए प्रातःकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।" स्थापत्य-ग्रन्थों के निर्देशानुसार नगर के भीतर विभिन्न भागों में अलग-अलग जातियों एवं व्यवसाय की अवधारणा थी

कपिलवस्तु

कपिलवस्तु बौद्ध काल का एक समृद्धशाली नगर था। यह महर्षि कपिल की तपोभूमि थी। इसी कारण इसका नाम कपिलवस्तु पड़ा। यह नगर विस्तृत परिखा तथा भव्य एवं सीधे राजपथ से युक्त एवं पर्वत की तरह ऊँचे प्राचीर से अलङ्कृत था। यह उत्तर प्रदेश के बस्ती जिले के उत्तर में स्थित था। हिमालय पर्वत के समीपस्थ होने के कारण इसकी सुषमा दर्शनीय थी। कपिलवस्तु के समीप ही लुम्बिनी ग्राम में गौतम बुद्ध के जन्म के कारण इस नगर ने अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। यह नगर सात प्राकारों से घिरा हुआ था तथा इसके प्राकार की ऊँचाई अठारह हाथ थी। नगर में एक सन्थागार था, जो सभाभवन का कार्य देता था। यहाँ पर गणराज्य के सम्मानित सदस्य एकत्र होकर महत्त्वपूर्ण विषयों एवं जटिल समस्याओं पर विचार-विनियम करते थे।

कुशीनगर

कुशीनगर मल्ल गणराज्य की राजधानी थी। इसका प्राचीन नाम कुशावती थी। शालवन हिरण्यवती नदी के तट पर स्थित था। इस नगर के प्राकार आदि सुसज्जित थे। इसके भीतर की जनसंख्या बहुत कम हो गई थी। नागरिक-भवनों के खण्डहर तथा भवन निर्माण में प्रयुक्त ईंटों की नींव दिखाई दे रही थी। उसके अनुसार नगर की परिधि लगभग दो मील थी। प्राचीन काल में यह नगर क्रय-विक्रय का महान केन्द्र रहा है। इस नगर की दीवार, परिखा, नगर-द्वारादि के चित्र साँची, भरहुत तथा अमरावती की कला में अङ्कित है। वस्तुतः कुशीनगर राजनीति, धर्म तथा व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था।

वैशाली

वैशाली भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। इक्ष्वाकुवंशीय राजा विशाल ने इस नगर को बसाया था,रामायण के अनुसार राम ने इस नगर को मिथिला जाते समय गङ्गा के उत्तरी तट पर खड़े होकर दूर से देखा था। तदनुसार यह नगर स्वर्ग के समान दिव्य एवं अत्यन्त रमणीय था। इक्ष्वाकु

की कृपा से इस नगर के सभी नरेश महात्मा, दीर्घायु वाले, बलवान और धार्मिक थे। वैशाली लिच्छवी गणराज्य की राजधानी थी। इसके चारों ओर नगरसुरक्षा की दृष्टि से एक दूसरे से एक गव्यूति की दूरी पर तीन दीवारें थीं। एक मिट्टी की, दूसरी ईंट की और तीसरी सम्भवतः पत्थर की रही होगी। इन दीवारों पर गोपुर (द्वार) बने हुए थे। जिनके ऊपर अट्टालकों का निर्माण किया गया था। यह नगर परिखाओं से भी घिरा हुआ था।

2. भवन कला

भवन निर्माण कला में जन-भवन, राज-भवन तथा देव-भवन तीनों प्रकार के भवनों का व्यापक क्षेत्र भाता है। साधारण भवनों तथा विशाल भवनों के अतिरिक्त इस साहित्य में त्रिभूमिक प्रासाद, सहस्र स्तम्भ एवं सहस्र द्वारों वाले सभा-कक्ष आदि का उल्लेख मिलता है। नगर-सन्निवेश का भी विवरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है। सम्पूर्ण वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भारतीय वास्तुकला जहाँ एक ओर धार्मिक संस्कारों से अनुप्राणित है, वहाँ दूसरी ओर सौन्दर्य तथा आनन्द के तत्त्वों से पूर्ण है। मंदिर निर्माण की परम्परा का प्रथम वर्णन शतपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है । शिल्पियों ने भारतीय शिल्प के विभिन्न अङ्गों को कल्पना द्वारा चारुत्व से मण्डित किया। राजप्रासाद संबन्धी प्रमाण, मान, संस्थान, संस्थान, उच्छा आादि लक्षणो से लक्षित एवं प्राकार-परिक्षा-गुप्त, गोपुर, अम्बुवेश्म, क्रीडाराम, महानस, कोष्ठागार आयुघस्थान, भाण्डागार, व्यायामशाला, मुत्यशाला, सगीतशाला, स्नानगृह, भारागृह, शय्यागृह, वासगृह, प्रेक्षा (नाटयशाला), वर्षणगृह, बोलागृह, अरिष्टगृह, अन्त पुर तथा उसके विभिन्न शोमा-सम्भार, कक्षाएँ, अशोकवन, नतामडप, बापी, दारु गिरि, पुष्पवीधियाँ; राजभवन की किस-किस दिशा मे पुरोहित, सेनानी, ब्राह्मण, ज्योतिषी एव मन्त्री के निवास, जनावास घालभवन, भवनाग, भवनद्रव्य, विशिष्ट भवन, सुमाई, भूषा, दारुकर्म, इष्टकाकर्म, द्वारविधान, स्तम्भलक्षण, छाद्यस्थापन आदि के साथ वास्तुपदो की विभिन्न योजनाएँ; मान, भग एव वेष आदि ।

3. मूर्तिकला

वैदिकवाङ्मय में भक्ति या उपासना का जो मूल बीज निहित था उसका पल्लवन परवर्ती भारतीय साहित्य और कला में मिलता है। आगमों-पुराणों की उपासना-पद्धति ने विष्णु, सूर्य, शिव आदि देवों की अर्चा और पूजा को बल दिया। उससे मूर्तियों तथा मन्दिरों का व्यापक रूप में निर्माण होने लगा और मन्दिर धार्मिक वास्तु के प्रमुख प्रतीक बन गये। मन्दिर के रूप-विधान की कल्पना एक युग का कार्य नहीं था किन्तु कलाकार ध्यानावस्थित होकर नये-नये विचारों को लेकर अपनी कुशलता दिखलाते रहे। प्राराभ में चैत्य के आकार से उन्हें प्रेरणा अवश्य मिली होगी तथा गर्भगृह* का नामकरण भी विहार में स्थित प्रतिमा स्थान को लेकर किया गया, किन्तु भारतीय वास्तुशास्त्र का भी प्रभाव कालान्तर में पड़ता गया और उसी के कारण सम्पूर्ण देश में मन्दिरों की विभिन्न रूप-रेखा सामने आई। कलाविदों ने सही विचार किया कि जो परमात्मा मनुष्य-शरीर में अंतर्निहित है, सूक्ष्म रूप में विराजमान है, उसी की प्राण-प्रतिष्ठा कर देवालय में रखते हैं। अत एव मूर्तिकारों ने उस देव की मानवाकृति तैयार की, जिसे मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित किया गया। कृष्णदत्त वाजपेयी ने भी प्रारम्भिक मन्दिरों के आकार-प्रकार-हेतु मानव-शरीर तथा वृक्ष और पर्वत-शिखर को प्रेरणा-स्रोत बताया है। संस्थान, मान, विन्यास, आकृति, भूषा, शिखर आदि । प्रतिमा-यान, परिवार, वर्ण, रूप, विभूषण, वस्त्र, वय, आयुध एव ध्वजाओ के लक्षणों से चिह्नित विभिन्न देवो एब देवियो, यक्षो, गन्धर्वो आदि को प्रतिमाएँ।

4. चित्रकला

विष्णुधर्मोत्तर पुराण में तृतीय खण्ड के अन्तर्गत पैतीसवें अध्याय से चित्र परम्परा का उल्लेख प्राप्त दोता है-

अतः परं प्रवक्ष्यामि चित्रं सूत्रं तवानघ । उर्वशीं सृजतः पूर्वे चित्रसूत्रं नृपात्मज ।।

संसार में सर्वप्रथम नारायण मुनि ने संसार के कल्याण की कामना से उर्वशी की सृष्टि बनायी, इसी सृष्टि की रचना से पहले चित्रसूत्र की रचना की, आम के रसो को लेकर महामुनि ने सर्वप्रथम सुन्दर स्त्री का चित्र बनया और यही से चित्रकला का उद्भव शास्त्रों में देखा जता है । मूर्तिकला के अन्तर्गत प्राचीनकाल में किन किन देवी या देवताओं की मूर्ति किन किन विशेष लक्षणों से युक्त होना चाहिए, इनका समुचित ज्ञान था, सौ प्रकार के देव मन्दिरों और उनकी वास्तुकला सम्बन्धित रूप विलाक्षणता, सर्वतोभद्र नामक देवमन्दिर की रचना सभी प्रकार मन्दिरों का सामान्य लक्षण देवालय निर्माण के लिए दारूपरीक्षा विधि, शिला परीक्षा विधि इश्तिकाओ को पकाने की विधि चिरस्थायी अवलेह अथवा वज्रचूर्ण बनने की विधि आदि का सम्पूर्ण ज्ञान होता था। पौराणिक काल में मन्दिरों के स्वरूप, प्राचीन मूर्तियाँ, सिक्के, मुद्राएँ आदि देखने को मिलती हैं। इन स्वरूपों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मन्दिर या देवायतन सीधे-साधे रूप में बनाये जाते थे। प्रकृतभूमि से कुछ ऊँचे स्थान पर प्रतिमा की स्थापना की जाती थी। उसके चारों ओर वेदिका या बाड़े का निर्माण होता था। बाद में वेदिका को ऊपर से भी आच्छादित कर देते थे। मथुरा, विदिशा, मध्यमिका आदि अनेक प्राचीन नगरों में सङ्कर्षण, वासुदेव आर्द के देवमन्दिरों का यही रूप था। कालान्तर में कलात्मक रुचि में अभिवृद्धि के साथ-साथ मन्दिर-वास्तु का स्वरूप भी संवर्द्धित होता गया। जैन तीर्थङ्करों, यक्षों तथा नागों के लिए प्रारम्भिक मन्दिरों का जो निर्माण हुआ उनका स्वरूप भी उपर्युक्त मन्दिरों जैसा था।

प्राचीन भारतीय स्थापत्य अथवा वास्तुकला में लकड़ियों का प्रयोग होता रहा, क्योंकि इस देश में जङ्गलों की बहुतायत थी और लकड़ी आदि स्थापत्य-सामग्री आसानी से उपलब्ध हो जाती थी। साँची और भारहुत के प्राचीन संस्थानों से इस बात के समुचित प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। वेदिका और तोरण यद्यपि बाद के हैं परन्तु वे लकड़ी की वेदिका तथा लकड़ी के तोरण की पद्धति पर बने हुए हैं और पत्थर में उनकी अनुकृति ही नहीं, अपितु अनुवाद सा प्रतीत होते हैं। उत्कीर्ण शिलापट्टों पर जो दृश्य अङ्कित हैं उनमें भी गौखें, प्रासादिकाएँ, अण्डाकार छतें, खम्भे और छज्जे, सभा, लकड़ी और बाँस के प्रारूप हैं।' यद्यपि भारतीय वास्तुकला के विकास में जैन लोगों का भी योगदान रहा है और बहुत से प्राचीन जैन अवशेष मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक जैन स्तूप का काल 777 ई० पूर्व निश्चित किया गया है परन्तु विधिवत् रूप से वास्तुकला को प्रोत्साहन सबसे पहले बौद्ध धर्म ने दिया। महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से भारतीय इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ होता है। ई०पू० छठी शताब्दी के साहित्यिक और पुरातात्त्विक दोनों प्रकार के ऐतिहासिक साधन अधिक परिमाण में उपलब्ध होने लगते हैं। मौर्य-युग में हम और अधिक स्थिर भूमि पर आ जाते हैं।

इस युग में बौद्ध धर्म के विकास के साथ-साथ वास्तुकला का भी विकास हुआ। मौर्य-सम्राट अशोक ने जब बौद्ध धर्म को अपनाकर उसके प्रसार के प्रयत्न किये तब स्थापत्य और मूर्तिकला की उन्नति द्रुतगति से हुई। इस काल में बड़े-बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया, जिनमें साँची, भारहुत अमरावती और सारनाथ के स्तूप हैं। मौर्य-सम्राट अशोक ने देशभर में बौद्ध स्तूप

बनवाये। इसके बाद स्तूप-निर्माण की परम्परा बढ़ी। उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश पेशावर ओर चरसद्दा में भी बड़े-बड़े स्तूप बने जिनमें चूने और मृण्मय पट्टों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया। स्तूपों के निर्माण का उद्देश्य या किसी अन्य बौद्ध संत के अवशेषों पर समाधि बनाना अथवा किसी स्थान से सम्बन्धित और जैन या बौद्ध गाथाओं में पवित्र समझी जाने वाली घटना को स्मरणीय बनाना था। इस काल में बड़ी-बड़ी भव्य गुफाएँ खोदी गईं, जिनमें चैत्य और विहारों का निर्माण किया गया। इनमें काट-काटकर सुन्दर गवाक्ष, खम्भेदार कक्ष और गज-पृष्ठाकार छतें ही नहीं अपितु मूर्तियाँ भी निर्मित की गई। इनका निर्माण दूसरी शताब्दी ई०पू० से आठवीं शताब्दी ई० तक हुआ। इनमें कार्ली, कन्हैरी, भज, कान्दन, वेदसा, नासिक, पीतलखोड़ा और अजन्ता की गुफाएँ प्रमुख हैं। अजन्ता की सुन्दर गुफाएँ इस युग की अद्भुत कृति हैं। इनमें सुन्दर चित्र बने हुए हैं, जिनमें बुद्ध की जातक कथाएँ अङ्कित हैं। भारतीय कलाओं के विकास में अजन्ता का महत्त्वपूर्ण स्थान है। गुप्तकाल में पूर्व के पृष्ठों में मन्दिर-निवेश के प्रेरणा-स्रोत के सम्बन्ध में उल्लेख किया जा चुका है। डॉ० रामनाथ के अनुसार हिन्दुओं के वैष्णव और शैव मन्दिर का विकास हुआ। गर्भगृह के बाहर खम्भेदार एक खुला बरामदा बनाया गया। हिन्दू-मन्दिर की यह मूल योजना थी। देवगढ़, बर्वासागर और भूमरा के मन्दिर इसी युग के हैं। बाद में इसमें मण्डप, अर्धमण्डप और प्रदक्षिणा-पथ जोड़ दिये गये और इस प्रकार इसकी रचनाविधि का विकास हुआ। धीरे-धीरे शिखर पल्लवित हुआ और दसवीं शताब्दी तक हिन्दू-मन्दिर एक भव्य प्रसाद बन गया। खजुराहो के मन्दिरों में इसका चरमोत्कर्ष प्रकट हुआ। उड़ीसा और दक्षिण में यही योजना विविध रूपों में विकसित हुई। दक्षिण में शिखर का स्वरूप बदल गया। वहाँ या तो अण्डाकार शिखर का प्रयोग हुआ या गोपुरम् बनाये गये किन्तु सांस्कृतिक विचार से उनमें विभेद नहीं गुजरात में लकड़ियों का प्रयोग होता था और वहाँ लकड़ी की रचना-विधि से प्रेरित तत्त्वों का बाहुल्य बराबर बना रहा। इनमें तोरण, प्रासादिकाएँ और क्षितिजाकार क्रमशः छोटी होती हुई छतें उल्लेखनीय हैं। इस देश में स्थापत्य सम्बन्धी निर्माण कार्य में ईंटों का भी प्रयोग होते रहा है। हड़प्पा सभ्यता में ईंटों से निर्माण के प्रमाण मिले हैं। स्तूपों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया जाता था। जैसे-मीरपुरखास, मालोट, काफिरकोट आदि। गुप्तकाल में और उसके बाद भी ईंटों से बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण किया गया, जिनमें विशेषत: भीतरगाँव, परावली, कुरारी, बोधगया, राजशाही सीरपुर और पुजारीपाली के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। इनमें कहीं-कहीं त्रिज्याकार मेहराब और दुहरे गुम्बद का भी प्रयोग किया गया। इनमें अलङ्करण कटी हुई ईंटों या मृण्मय पट्टों से किया जाता था। इस वर्ग में भीतरगाँव का मन्दिर सर्वोत्कृष्ट कृति है। इस्लाम के भारत में आने से पहले ही इस देश में वास्तुकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी और विश्वप्रसिद्ध बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हो चुका था। इनमें मामल्लापुरम् के सुन्दर रथ, पादकिल का वीरुपक्ष का मन्दिर, कांजीवरम् का कैलाश मन्दिर, तोर का बृहदेश्वर-मन्दिर, औसिया और किराड़ के मन्दिर, मुरैरा का सूर्य-मन्दिर, आबू के जैन-मन्दिर, खजुराहो के मन्दिर, ग्वालियर का सहस्रबाहु-मन्दिर और भुवनेश्वर के लिङ्गराज तथा मुकटेश्वर के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पत्थर के इन भव्यप्रासादों के अत्यन्त सुन्दर शिखर बनाये गये। इनमें देवी-देवताओं और स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों का अलङ्करण के लिए प्रयोग हुआ। मन्दिर के साथ-साथ मूर्तिकला का भी विकास हुआ और उसने धीरे-धीरे कलात्मकता के चरम आदर्श को प्राप्त कर लिया। स्थापत्यकला में पत्थर का प्रयोग व्यापक रूप से होता था। पत्थर के खम्भे या दीवारें, पत्थर की छतें और पत्थर के ही शिखर बनाये जाते थे। छज्जे भी पत्थर के ही लगाये जाते थे। कहीं-कहीं तो एक-दूसरे पत्थरों को बिना चूने मसाले के रखकर निर्माण किया जाता था। पत्थर के कार्य में भारतीय कारीगर अत्यन्त निपुण था और परम्परागत पत्थर से ही निर्माण

कार्य करता था। यद्यपि यहाँ पर मेहरान भी बनाये जाते थे, इस बात की पुष्टि भीतरगाँव के मन्दिर से होती है, पुनरपि मेहराब बनाने की परम्परा यहाँ की नहीं थी। इस्लाम के आगमन से पूर्व इस देश में वास्तुकला पर बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, जिनमें 'मानसार''मयमत' (एवीं शताब्दी) और 'समराङ्गणसूत्रधार' (११ वीं शताब्दी) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वास्तुकला की एक बृहत् वास्तुविधा बन गई थी। मन्दिर के छोटे-छोटे तत्त्वों का विवेचन किया जा चुका था और निर्माणसम्बन्धी एक-एक बात के निश्चित मानदण्ड स्थापित हो चुके थे। शास्त्रीयकरण की यह स्थिति कला की अत्यन्त विकसित अवस्थाओं के साथ-साथ ही सम्भव होती है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस देश में मुस्लिमों के आगमन के समय भारतीय स्थापत्य, जैसा अभी कह आये है, शास्त्र भी है तथा कला भी। एक ओर इस महादेश के दोनों पथों पर स्थापत्य की महनीय एवं अद्भुत कलाकृतियों के महान् निदर्शन बिखरे पड़े हैं और दूसरी ओर इस विषय के भारतीय साहित्य-वेद, वेदांग (विशेष कर कल्प एवं ज्योतिष), इतिहास, पुराण, आगम एवं शिल्पशास्त्रीय या वास्तुशास्त्रीय प्रन्थों तथा प्रतिष्ठा एवं पद्धति से सम्बन्धित ग्रन्थो मे विवेचन है । प्रथम कलाकृतियाँ है, दूसरे कलासिद्धान्त। दोनों के समन्वयात्मक अध्ययन के बिना भारतीय स्थापत्य की आत्मा का स्वरूप नहीं पहचाना जा सकता।

परन्तु इस समन्वयात्मक पद्धति का अनुसरण बड़ा ही कठिन है। स्थापत्य, जैसा हम देखेंगे, एक उपवेद के रूप में प्रकल्पित हुआ। धनुर्वेद, आयुर्वेद एवं गान्धर्ववेद के समान स्थापत्य भी यहाँ के आये साहित्य में परिगणित था। कालान्तर मे वैदिक मनीषियों, मुनियों एवं ऐतिहासिक आरयों ने स्थापत्य शास्त्र पर निष्णात ग्रन्थो की भी रचना की। स्थापत्य शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता एवं स्थापत्य कला के पूर्ण कर्मविद्, प्रज्ञासम्पन्न एव शीलसयुक्त स्थपतियों ने ही भारतीय स्थापत्य की विद्यमान, विमुग्धकारी कृतियों की रचना की थी। एक समय था, जब यह कारीगरी द्विजाति ब्राह्मणो, क्षत्रियो एवं वैश्यों सभी के लिए समान समादरणीय एवं उपजीव्य थी। सम्भवतः शापदग्ध विश्वकर्मा के पुत्रों के विधिविलास से यह कर्म-कौशल शूद्रों के हाथ आया। वैदुष्य हुप्त हो गया। लकीर के फकीर ये अपढ़ कारीगर शास्त्र को बहुत दिनों तक जीवित न रख सके। परिणामत स्थापत्य शास्त्र का ज्ञान लुप्तप्राय हो गया। लगभग ५०० वर्षों की इस हतभाग्यता से बेचारा भारतीय स्थापत्य विधुर बना बैठा रहा। आधुनिक काल के विद्वानों ने भारतीय स्थापत्य को समझने की ओर ध्यान दिया है। डा० कंमरिश का हिन्दू टेम्पुल' वास्तव में भारतीय प्रासाद के शिल्पशास्त्रीय सिद्धान्तो के आधार पर लिखा गया है। डा० भट्टाचार्य ने अपने ए स्टडी आफ वास्तु-विद्या आर हिन्दू कैनन्स आफ आर्कीटेक्चर' में प्राचीन भारतीयों को देन का सुन्दर लामाहार किया है। डा० मल्लाया ने 'तन्त्रसमुन्वय' का जो अध्ययन प्रस्तुत किया है वह भी इस दिशा में एक स्तुत्य प्रयत्न है। दत्त महाशय के 'टाउन प्लेनिग' से संबन्धित ग्रन्थ भी प्राचीन स्थापत्य कौशल का प्रतिपादन करते हैं। हमारा यह ग्रन्थ इस शास्त्र के सम्पूर्ण विषयों पर प्रकाश डालता है।

अभ्यास प्रश्न – 1

निम्नलिखित में से सही विकल्प का चुनाव कीजिये

1. भारतीय परम्परा में प्रचलित कलायें कितनी हैं –

   अ. 64

   ब. 32

स. 61

द. 23

2. भारत की सभी विद्याओं का मूल किससे अनुप्राणित है -

अ. भारतीय दर्शन से

ब. ज्योतिष से

स. व्याकरण से

द. इनमें से कोई नहीं

3. हड़प्पा सभ्यता में स्तूपों के निर्माण में प्रमाण मिला है-

अ. ईटों का

ब. मृत्तिका का

स. लोहे का

द. इनमे से कोई नही

4. वैशाली नगर को बसाया था -

अ. लक्ष्मण ने

ब. इक्ष्वाकुवंशीय राजा विशाल ने

स. राजा दशरथ ने

द. कोई नही

अभ्यास प्रश्न – 2

निम्नलिखित में से सत्य असत्य का निर्धारण कीजिये

1. थाणेश्वर नगर का प्राचीन नाम स्थाण्वीश्वर था। ( )
2. प्राचीन भारतीय वास्तु कला को 2 भागो में विभाजित किया गया है। ( )
3. ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र का आपस में सम्बन्ध है। ( )
4. यन्त्र कला भी वास्तु-शास्त्र का विषय है। ( )

अभ्यास प्रश्न – 3

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये –

1. ....को सभ्यता का साँचा भी कहा गया है।
2. भारतीय वास्तुकला की परम्परा अत्यन्त .... है।
3. हस्तिन् नामक व्यक्ति ने भागीरथी के तट पर ....नगर को बसाया था।
4. नगर-सन्निवेश का विवरण..................... में उपलब्ध होता है।

5.4 सारांश

हमारे देश की प्राचीन शास्त्र परम्परा मे जिन-जिन विद्याओं का एक सही उल्लेख हुआ है उनमें वास्तु-विद्या का उल्लेख नहीं देख पडता। इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वास्तु-विद्या विद्या-रस्थानों में ही नहीं मानी जाती थी आवश्यकता आविष्कारो की जनमी कही गयी है, और भवन (निवास) सम्बन्धी आवश्यकता मानवता एव मानवसभ्यता के साथ-साथ सनातन से सर्वत्र रही है। ऋग्वेद में ही वास्तु-सम्बन्धी बहुल समेत है जिनसे तत्कालीन वास्तु-विद्या एवं वास्तुकला का सुदृढ अनुमान किया जा सकता है। यही नहीं, सिन्धु घाटी सभ्यता में तो वास्तुकला के विकास की उन्नति के सुदृढ निदर्शन प्राप्त हुए हैं। अत वास्तु-विद्या का मानव सभ्यता मे अत्यन्त आवश्यक ज्ञान सनातन से सर्वत्र चला आ रहा है। जब पुराणों और आगमों की उपासना परम्परा पल्लवित हुई तो शिव-पूजा और विष्णु पूजा की प्रबल धारा हिमाद्रि-उत्तर से दक्षिण सेतुबन्ध रामेश्वर तक बहुने लगी।

शिवभक्ति और विष्णुभक्ति, इन दो धार्मिक प्रगतियों के प्रसार द्वारा प्रतिमा-सापेक्ष इस नवीन पौराणिक धर्म के बृहत् विजृम्भण से देश के कोने-कोने में तीर्थ-स्थानो, शिवमन्दिरी एवं विष्णुमन्दिरों की स्थापना तथा उनका निर्माण प्रारम्भ हुआ। परिणामतः इस पौराणिक धर्म के प्रचार ने वास्तुकला को चरम उन्नति पर पहुंचा दिया और इस देश के विशाल भू-भाग पर दक्षिणापथ तथा उत्तरापथ इन दोनो प्राचीन भू-खण्डो में वास्तुकला के चरमोत्कर्ष के अप्रतिम एवं प्रोज्ज्वल निदर्शन मिलने लगे। इस प्रकार भारतीय वास्तु-विद्या तथा वास्तुकला का आश्रय धर्म रहा है यह तथ्य हृदयंगम हो जाता है।

वैसे तो वास्तु-विद्या और वास्तुकला दोनो का प्रवाह एक ही स्रोत से निःसृत हुआ दोनो का सनातन काल से इस देश में समन्वय रहा है, परन्तु प्रकृत में हम वास्तुविद्या पर ही विचार करेंगे । भारतीय वास्तुकला की विशेषता पर केवल थोडा-मा दृष्टिपात करना अप्रासंगिक न होगा। भारतीय जीवन सनातन से अध्यात्म भावना से प्रभावित रहा है, भारतीय कला इसका अपवाद नही। वास्तुकला के सर्मज्ञ विद्वान् डॉ० कुमार स्वामी के शब्दों मे "भारत की सभी देने उसके दर्शन से अनुप्राणित है। जहाँ तक भारतीय कला की उद्भावना का सम्बन्ध है, उसमें कलाकार के मानसिक योग एवं प्रारम्भिक धार्मिक संस्कारों का होना अनिवार्य है।" इस कथन से हमारे कथन की सत्यता स्वतः सिद्ध है कि भारतीय धर्म के कलेवर में भारतीय दर्शन को आत्मा का निवास है। बिना आत्मा के शरीर निष्प्राण है। बिना शरीर के आत्मा का अस्तित्व केवल अनुमेय है प्रत्यक्ष नहीं। अतः धर्म और दर्शन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। यही कारण है कि भारतीय विचारकों ने जहाँ शब्द ब्रह्मवाद अथवा रस-ब्रह्मवाद एवं नाद ब्रह्मबाद की कल्पना की है, वहाँ उन लोगो ने वास्तु मे भी वास्तुवाद की कल्पना करके भारतीय वास्तुकला मे जीवन-सचार किया है। जड में चैतन्य की कल्पना ही तो दर्शन का मर्म है। भारतीय वास्तुकला की इस मौलिक विशेषता को प्राय सभी उद्भट वास्तु-शास्त्रियों में स्वीकार किया है ।

5.5 शब्दावली

उद्भट वास्तु-शास्त्री	-	वास्तुशास्त्र के प्रकाण्ड विद्वान्।
चित्रकला	-	वास्तुशास्त्र की एक विधा
गर्भगृह	-	मन्दिर के अन्दर का भाग जहां मूर्ति स्थापित हो।

कल्पशास्त्र - छः वेदांगो में एक जिसको वेदपुरुष के हाथ की संज्ञा प्राप्त है।

पुजारीपाली - स्थान का नाम

प्रेक्षागृह - नाट्यशाला रंगमन्च

5.6 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न – 1

1. अ. 64
2. भारतीय दर्शन से
3. अ. ईटों का
4. ब. इक्ष्वाकुवंशीय राजा विशाल ने

अभ्यास प्रश्न – 2

1. सत्य
2. असत्य
3. सत्य
4. सत्य

अभ्यास प्रश्न – 3

1. वास्तुकला
2. प्राचीन
3. हस्तिनापुर
4. वैदिक साहित्य

5.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

5. वास्तुरत्नाकर
6. मनुष्यालय चन्द्रिका
7. वास्तु कलानिधि
8. वृहद्संहिता
9. वास्तुशास्त्र का विहंगावलोकन
10. भारतीय स्थापत्य कला का इतिहास

इकाई 6 भारतेतर वास्तु परम्परा

इकाई की संरचना

6.0 उद्देश्य

6.1 प्रस्तावना

6.2 भारतेतर वास्तु परम्परा

6.3 सारांश

6.4 शब्दावली

6.5 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

6.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

6.0 उद्देश्य

भारतेतर वास्तु परम्परा नामक इस इकाई के अध्ययन से आप समझ पायेंगे कि :

- वास्तु परम्परा किस प्रकार मूल रूप से भारतीय है।
- भारत से इतर देशों में भी कुछ स्वरूप परिवर्तन के साथ भारतीय परम्पराए हैं।
- अन्य देशों में और महाद्वीपों तक भारतीय वास्तु परम्परा प्रचारित और प्रसारित है।
- वास्तु परम्परा के साथ ही उस देश या स्थान की मान्यतायें मिलकर वास्तु का एक नया रूप विकसित हुआ।
- भारतीय मनीषा का चिन्तन कितना विशाल और विश्वव्यापी था।
- विश्व के अन्य देशों के इतिहास भूगोल और संस्कृति का भी ज्ञान होगा।
- वास्तुशास्त्र पर विचार करने कि स्वतन्त्र मनोवृत्ति खुलेगी।

6.1 प्रस्तावना

वास्तुकला किसी स्थान को मानव के लिए वासयोग्य बनाने की कला है। अत: कालान्तर में यह चाहे जितनी भी विकसित और जटिल हो गई हो, इसका आरम्भ मौसम की उग्रता, वन्य पशुओं के भय और शत्रुओं के आक्रमण से बचने के प्रारम्भिक उपायों में ही हुआ होगा। मानव सभ्यता के इतिहासका भी कुछ ऐसा ही आरम्भ है। समरांगण सूत्र में कथा है कि सृष्टि के उपरान्त पितामह ब्रह्मा ने संसार की योजना का भार महाराज पृथु को सौंपा। महाराज पृथु ने सर्वप्रथम पृथ्वी के बंजर भाग को उपजाऊ बनाने के लिये हल, कुल्हाडी, फावडा जैसे कृषि कार्य के कुछ संसाधन बनाए। पृथुराजा ने स्वयं पृथ्वी पर हल चलाया और परिणामस्वरूप पृथ्वी फलदायक बनी। धान्य सम्पदा की भरपूर फसलें पकने लगी। इस प्रकार कृषिवास्तु का प्रारम्भ हुआ। हम सभी जानते हैं कि कृषि कार्य हेतु जलकी जरूरत पड़ती है। अनावृष्टि के समय भी खेती के लिये जल मिलता रहे इसके लिये वापी, कूप, तालाब, सरोवर, कुंड, नहरें

आदि की रचना हुई जलवास्तु का और प्रारम्भ हुआ। एक राजा थे राजा विश्वकर्मा का कार्य नहीं कर सकते थे। अत: अपनी इस असफलता को लेकर पृथु पुनः पितामह के पास पहुंचे। पृथ्वी भी अपनी करुण कहानी को लेकर के पहुंची। दोनों की दुर्दशा देखकर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को बुलाया और विश्व के निवेश (विशेष कर भूतल के निवेश) का भार सौंपा।

विश्वकर्मा ने अभी तक देवपुरियों का निर्माण किया था। बह्मा के इस महानियोग में पूर्ण सफलता के लिए उन्हें सहायकों की आवश्यकता हुई। स्थपतियों की परम्परा अभी पल्लवित नहीं हुई थी। विश्वकर्मा ने अपने मानसपुत्रों को बुलाया और आर्यावर्त की चारों दिशाओं में वास्तुशास्त्र के प्रचार-प्रसार और संरचना करने के लिए सहायता की याचना की। यहीं से सम्पूर्ण विश्व के अलग अलग देशों में वहां के मौसम ऋतु और जलवायु के अनुरूप वास्तु की संरचना भी की गयी। पुर निवेश योजना, राजधानी एवं जनपदो के रक्षार्थ विभिन्न प्रकार के दुर्गों, जनावासो (पुर, नगर, ग्राम) तथा जाति एवं वर्णानुरूप प्रासाद भवनों और देवप्रतिष्ठा के लिए देवभवनों आदि की रचना भी यहीं से प्रारम्भ हुयी।

विश्वकर्मा के चार मानस पुत्र थे -

1. जय
2. मय
3. सिद्धार्थ
4. अपराजित।

इन चार पुत्रों में से मय के चार पुत्रों का उल्लेख पुराणों में मिलता है।

1. श्वेतकर्मा
2. गौरकर्मा
3. पींगटकर्मा
4. श्यामकर्मा

श्वेतकर्मा ने ग्रीस-मिश्र और यूरोप के प्रदेशों में वास्तुशास्त्र की संरचनाएं बनाई। गौरकर्मा ने पूर्वके प्रदेशों, द्वीपों, जापान और दक्षिण अमेरिका के प्रदेशों में वास्तुशास्त्र का प्रचार-प्रसार किया, और वहां की भौगोलिक स्थिति के अनुसार रचनाएं बनाई। पींगटकर्मा ने चीन और रशिया के तमाम प्रदेशों में वास्तुशास्त्र विकसित किया। श्यामकर्मा ने अफ्रिका महाद्वीप में वास्तुशास्त्रीय विकास के कार्य करने का उल्लेख मिलता है।

6.2 भारतेतर वास्तु परम्परा

वैसे तो आधुनिक परिवेश में वास्तु को दो स्थूल वर्गों में बाँटा जा सकता है :

1. प्राच्य वास्तु
2. पाश्चात्य वास्तु

प्राच्य - जैसे भारतीय, चीनी और जापानी वास्तु, जो प्राय: स्वतन्त्र शैलियाँ हैं और जिनका वास्तुविकास की परम्परा में विशेष प्रभाव नहीं पड़ा; और दूसरा पाश्चात्य वास्तु, जिसका आरम्भ मिस्र और सीरिया में हुआ और चरम विकास यूरोप में मिलता है। प्राचीन अमरीकी

और इस्लामी वास्तु की भी स्वतन्त्र शैलियाँ हैं यद्यपि इस्लामी वास्तु का अमिट प्रभाव स्पेन तक पड़ा। मिस्र और पश्चिमी एशिया का प्रभाव यूनान पर और फलत: सारी पाश्चात्य शैलियों पर पड़ा, इसलिए वे पाश्चात्य वास्तु के अन्तर्गत ही आ सकते हैं। प्राच्य कला में अनेक ऐसी बातें हैं जिनके अभ्यस्त यूरोपीय लोग नहीं हैं, इसलिए वे उन्हें अप्रिय और विरूप लगती हैं। किन्तु प्रयोग ही धीरे-धीरे प्रकृति बन जाता है। इसलिए पूर्वी और पश्चिमी वास्तु में अनिवार्यत: कुछ भेद है, जो विशुद्ध प्राच्य वास्तु में विशिष्ट धार्मिक कृत्यों और सामाजिक प्रथाओं के प्रभाव के रूप में उद्व्यक्त होता है। पूर्व में अलंकरण योजनाएँ ही प्रमुख रही हैं जबकि यूरोप में निर्माण संबंधी समस्याओं का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए उनके क्रमिक समाधान द्वारा वास्तु विकसित हुआ।

वास्तुकला के ऐतिहासिक विकास के प्रत्येक प्रमुख चरण के मूल में कोई न कोई विचारधारा स्पष्ट झलकती है। यूनानी वास्तु में परिष्कृत पूर्णता थी, रोमन इमारतें अपने वैज्ञानिक निर्माण के लिए प्रसिद्ध हैं, फ्रांसीसी गॉथि वास्तु उग्र क्रियाशीलता का द्योतक है, इतालवी पुनरुद्धार में उस युग का पांडित्य झलकता है और भारतीय वास्तु का प्रमुख गुण है उसका आध्यात्मिक विषय। इसमें संदेह नहीं, कि जनता की तत्कालीन धार्मिक चेतना मूर्त रूप में व्यक्त करना ही भारतीय वास्तु का मूल उद्देश्य रहा है, अर्थात् जनभावना ही ईंट पत्थर में मूर्त हुई है। भारतीय वास्तु की विशेषता यहाँ की दीवारों के उत्कृष्ट और प्रचुर अलंकरण में है। भित्तिचित्रों और मूर्तियों की योजना, जिसमें अलंकरण के अतिरिक्त अपने विषय के गंभीर भाव भी व्यक्त होते हैं, भवन को बाहर से कभी कभी पूर्णतया लपेट लेती है। इनमें वास्तु का जीवन से सम्बन्ध क्या, वास्तव में आध्यात्मिक जीवन ही अंकित है। न्यूनाधिक उभार में उत्कीर्ण अपने अलौकिक कृत्यों में लगे हुए देश भर के देवी देवता, तथा युगों पुराना पौराणिक गाथाएँ, मूर्तिकला को प्रतीक बनाकर दर्शकों के सम्मुख अत्यंत रोचक कथाओं और मनोहर चित्रों की एक पुस्तक सी खोल देती हैं।

सात महाद्वीपों मे विकसित यह भूमि भारतीय वास्तु परम्परा से आबद्ध है -

1. एशिया
2. अफ्रीका
3. यूरोप
4. उत्तरी अमरीका
5. दक्षिणी अमरीका
6. ऑस्ट्रेलिया
7. अन्टार्कटिका

एशिया की वास्तु परम्परा

भारतीय वास्तु परम्परा के उत्कृष्ट उदाहरण भारत से अन्यत्र श्रीलंका, नेपाल, वर्मा, स्याम, जावा, बाली, हिन्दचीन और कंबोडिया में भी मिलते हैं। नेपाल के शम्भुनाथ, बोधनाथ, मामनाथ मन्दिर , लंका में अनुराधापुर का स्तूप और लंकातिलक मन्दिर , वर्मा के बौद्ध मठ और पगोडा, कंबोडिया में अंकोर के मन्दिर , बैंकाक के मन्दिर , जावा में प्रांबनाम का बिहार, कलासन मन्दिर और बोरोबंदर स्तूप आदि हिंदू और बौद्ध वास्तु के व्यपक प्रसार के प्रमाण हैं। जावा में भारतीय संस्कृति के प्रवेश के कुछ प्रमाण 4 वी शती ईसवी के मिलते हैं। वहाँ के

अनेक स्मारकों से पता लगता है कि मध्य जावा में 625 से 928 ई. तक वास्तुकला का स्वर्णकाल और पूर्वी जावा में 928 से 1478 ई. तक रजतकाल था।

हाल में मध्य एशिया में जो अनुसन्धान सर औरैल स्टाइन ने किये, उनसे पता चला है कि ई. तृतीय शती के अन्त तक मध्य एशिया में अनेक भारतीय बस्तियाँ स्थापित हो गयी थीं, जिनमें प्रधानतया बौद्ध लोग रहते थे। भारतीयों ने फरात नदी के काँठे में भी अपनी कुछ बस्तियाँ बसा ली थीं और वहाँ दो मन्दिर भी बनवाये थे। ये मन्दिर चौथी शती के आरम्भ में नष्ट कर दिये गये। अतः इन मन्दिरों का आकार-प्रकार क्या था. यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता। ई. पूर्व प्रथम शती के मध्य में एशिया के खोतन राज्य का शासक विजयसम्भव हुआ. जिसने अर्हत वैरोचन नामक बौद्ध भिक्षु से दीक्षा ली। उसके वंशज विजयजीर्य, विजयजय, विजयधर्म आदि हुए। इन शासकों के राज्यकाल में बौद्धस्तूपों तथा विहारों का निर्माण मध्य एशिया के अनेक स्थानों पर हुआ। खोतन (कुस्तन) नगर के निकट जिस बड़े विहार की स्थापना हुई. उसका नाम 'गोश्रृंग विहार मिलता है। कुछ समय पूर्व इस विशाल विहार के कतिपय अवशेष प्राप्त हुए हैं। ई. तीसरी शती में खोतन का 'गोमति विहार' शिक्षा का केन्द्र था। चौथी शती के अन्त में जब फाह्यान वहाँ गया तो उसने इस केन्द्र को काफी उन्नत दशा में पाया। वहाँ उस समय महायान-मतावलम्बी तीन हजार बौद्ध भिक्षु रहते थे। अनुमान होता है कि मध्य एशिया के स्तूपों का निर्माण शैली बहुत कुछ उसी ढंग की थी जैसी की साँची या तक्षशिला के स्तपों में मिलती है। खरोष्ठी लिपि में लिखी जाने वाली भारतीय प्राकृत भाषा मध्य एशिया की प्रधान भाषा बन गयी थी। उसमें लिखे हुए कीलाक्षरी लेख मध्य एशिया के अनेक भागों में प्राप्त हुए हैं। शक-सातवाहन काल में मध्य एशिया के अनेक राज्यों के भारतीय नाम जैसे शैल देश, कोक्कुक, खोतन्न, कल्मद, भरुक व कूची आदि मिले हैं। इनमें दक्षिण में खोतन्त्र तथा उत्तर में कूची भारतीय संस्कृति के प्रधान केन्द्र थे, जहाँ से भारतीय भाषा. साहित्य और कला का प्रसार मध्य एशिया के अन्य प्रदेशों में भी हुआ।

पूर्वी देशों की वास्तु परम्परा

ई. सन् के आरम्भ में भारतीयों का ध्यान पूर्वी देशों की ओर विशेष रूप से आकृष्ट हुआ। भारतीय अन्वेषकों ने धीरे-धीरे मलाया, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, अनाम तथा हिन्देशिया के द्वीपों में अपनी अनेक बस्तियाँ बसायीं। उनमें नाम वंग, श्रीक्षेत्र, कंबुज, मालव, दशार्ण, चम्पा, श्रीविजय आदि मिले हैं। इन राज्यों में नगरों के नाम भी भारतीय रखे गये, जैसे-हस्तिनापुर, अयोध्या, वैशाली, मथुरा, कुसुमनगर, रामावती, द्वारवती आदि। अधिकांश राज्यों के शासक भारतीय थे। गुप्तकाल में ये स्थान भारतीय संस्कृति के रंग में पूर्णतया रंग गये। भारतीय रीति-रिवाज, लिपि, भाषा और कला का इन देशों में बराबर प्रसार होता रहा। भारतीय लोग वहाँ के निवासियों के साथ खान-पान तथा वैवाहिक सम्बन्ध करने लगे। बृहत्तर भारत की एक सीमावंक्षु और तारीम नदियों के कांठे तक पहुँची तो दूसरी हिन्दचीन और हिन्देशिया के पूर्वी छोरों तक।

हिन्दचीन तथा हिन्देशिया की वास्तु परम्परा

हिन्दचीन तथा हिन्देशिया के विभिन्न भागों से वास्तुकला एवं मूर्तिकला के जो सैकड़ों अवशेष उपलब्ध हुए हैं उनसे एक लम्बे समय तक इन देशों में भारतीय संस्कृति के व्यापक प्रसार का पता चला है। उत्तर-गुप्तकाल की जो इमारतें हिन्दचीन में मिली हैं उनसे ज्ञात होता है कि बौद्ध तथा हिन्दू इमारतों का निर्माण कुछ समय तक साथ-साथ चलता रहा। बर्मा में क्रोम

और थतोन आदि स्थानों से प्राप्त बौद्ध स्तूपों तथा वैष्णव एवं शैव मन्दिरों के प्राप्त अवशेषों से यह बात प्रमाणित होती है। कम्बोडिया में प्राप्त हिन्दू मन्दिरों का वास्तु विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उनका ढंग लगभग उसी प्रकार का है, जैसा उ.प्र. में देवगढ़ के गुप्तकालीन मन्दिर में मिलता है। कंबोडिया के मन्दिर चौकोर आकृति के तथा सपाट छत वाले हैं। उनमें प्रदक्षिणा मार्ग नहीं मिलता। ईंट से निर्मित लगभग 50 मन्दिर कम्बोडिया के प्रैकुक, कोपंग, थोम आदि स्थानों में मिले हैं। उनकी बाहरी दीवारों पर उत्कीर्ण शिलापट्ट बड़ी संख्या में मिले हैं। उन पर प्रायः विष्णु, ब्रह्मा, शिव, दुर्गा, गणेश आदि हिन्दू देवी-देवताओं की मूर्तियाँ मिली हैं। बौद्ध मूर्तियाँ भी कम्बुज में प्राप्त हुई हैं, पर अपेक्षाकृत कम हिन्दचीन के पूर्वी छोर पर, जिसे प्राचीन काल में 'चम्पा' कहते थे, मिसोन नामक स्थान में धर्मराज श्री भद्रवर्मा ने चौथी शती के अन्त में भद्रेश्वर स्वामी महादेव का एक विशाल मन्दिर बनवाया, जो बाद में हिन्दचीन तथा हिन्देशिया का एक सांस्कृतिक केन्द्र बना। चम्पा तथा कम्बुज के अधिकांश शासक हिन्दू धर्म के अनुयायी थे और उनके समय में इन देशों में भारतीय संस्कृति का अच्छा प्रचार हुआ। कम्बुज के अभिलेखों में भारत को 'आर्यदेश कहा गया है।

ई. 600 से लेकर प्रायः 1300 ई. तक पूर्व-मध्यकाल में दक्षिण-पूर्व के वास्तु पर भारतीय प्रभाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। इस काल के अवशेष भी अधिक मिले हैं। बर्मा के अनेक नगरों में इस काल में बौद्ध तथा हिन्दू मन्दिरों का बड़ी संख्या में निर्माण हुआ। पगान शहर के लगभग पांच हजार पगोड़ों में प्राचीन आनन्द मन्दिर उल्लेखनीय है। यह वर्मा के राजा किजित्थ के शासनकाल (1084-1112 ई.) में बना। इसका निर्माण भारत के कारीगरों द्वारा किया गया। इस मन्दिर में बौद्ध धर्म सम्बन्धी मूर्तियों की संख्या 81 है तथा लगभग डेढ़ हजार मृण्मूर्तियाँ मन्दिर में यथास्थान लगी हैं, जिन पर जातक दृश्य बड़ी सुन्दरता के साथ उत्कीर्ण हैं। मन्दिर के वहिर्भाग में इस प्रकार के शिला-पों का प्रदर्शन उत्तर तथा दक्षिण भारत के मन्दिरों में प्रायः मिलता है। बर्मा के अधिकांश मन्दिर ईंटों के बने हैं। उनकी भीतरी दीवारों पर जो अलंकरण हैं, वे बंगाल की पाल-चित्रकला से प्रभावित हैं।

कम्बोडिया की वास्तु परम्परा

कम्बोडिया के अंकोरथम नगर में राजा यशोवर्मा के द्वारा बनवाये हुए मन्दिर में हिन्दू और बौद्ध मूर्तियाँ साथ-साथ उकेरी मिली हैं। राजा जयवर्मा सप्तम ने 12वीं शती के अन्त में अंकोरथम का पुनर्निर्माण कराया, जिसमें भारतीय वास्तुकला की ओर विशेष ध्यान दिया गया। कम्बोडिया का सबसे महत्वपूर्ण भारतीय मन्दिर 1125 ई. में कम्युज के शासक सूर्यवर्मा द्वितीय के द्वारा बनवाया गया। यह अंकोरवट के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। जिस नगर में यह मन्दिर बनाया गया उसका प्राचीन नाम यशोधरपुर था। इस विशाल मन्दिर में रामायण की सारी कथा को मूर्त रूप दिया गया। इसके अलावा मन्दिर में महाभारत और पुराणों के दृश्य, यक्ष किन्नर, गन्धर्व तथा अप्सराएँ जगह-जगह अत्यन्त सुन्दरता के साथ अंकित हैं। वास्तव में यह मन्दिर मध्यकालीन हिन्दू स्थापत्य की एक उत्कृष्ट कृति है, जिसमें वास्तुकला, मूर्तिकला और साहित्य की झाँकी एकत्र मिलती है। अंकोरवट के अतिरिक्त कम्बोडिया में बफून, बंतेचमर आदि की इमारतें भी दर्शनीय हैं, जिन पर भारतीय वास्तु का स्पष्ट प्रभाव है। मलाया में मध्यकाल में हिन्दू तथा बौद्ध मन्दिर प्रचुरता से मिले हैं। मलाया के वेलेजली प्राप्त में बौद्ध मन्दिरों के विशेष तथा कुछ महत्वपूर्ण अभिलेख प्राप्त हुए हैं।

जापानी वास्तु परम्परा

यद्यपि जापानी वास्तु का मूल चीन में है, फिर भी निर्माण और अलंकरण की बारीकी इसकी अपनी विशेषता है। अनेक बौद्ध मन्दिर और पगोडा देश भर में फैले हैं। क्यूटो में मिकाडो का महल और किंकाकूजी तथा जिंकाकूजी के उद्यानमंडप और नगोया में शुकिन रो सराय उल्लेखनीय हैं। सातवीं शती से सुमात्रा-जावा में श्रीविजय राज्य का आधिपत्य शैलेन्द्र वंश के हाथ में गया। शैलेन्द्र लोग कलिंग-प्रदेश से सुमात्रा के दक्षिण में पहुँचे थे। धीरे-धीरे उन्होंने मलाया, सुमात्रा, जावा तथा निकटस्थ द्वीपों पर अधिकार कर लिया। ये शासक महायान बौद्ध सम्प्रदाय के अनुयायी थे। बौद्ध मत के प्रसार के लिए उन्होंने बड़ा उद्योग किया। शैलेन्द्र राजाओं ने मगध-शासकों के साथ मैत्री सम्बन्ध रखा। शैलेन्द्र राजा बालपुत्रदेव ने नालन्दा में एक बड़ा बौद्ध विहार स्थापित किया। इस वंश ने चंडी-कलसन नामक स्थान पर तारादेवी का भी एक बड़ा मन्दिर बनवाया। शैलेन्द्र शासन-काल की सबसे अधिक उल्लेखनीय इमारत बाराबुदुर का स्तूप है। इसका निर्माण वीं शताब्दी के अन्त में जाया में हुआ। इस विशाल इमारत में 6 खण्ड हैं। निचले 6 खण्ड चौकोर हैं तथा ऊपर के 3 गोलाकार । इस भव्य इमारत के द्वार तथा प्रदक्षिणा-मार्ग विविध उत्कीर्ण शिलापट्टों से सुसज्जित हैं। कुल शिलापट्टों की संख्या 1500 से ऊपर है। भगवान् बुद्ध की जीवन-गाथा, जो अनेक बौद्ध ग्रन्थों में मिलती है, इन शिलापट्टों पर बड़ी सजीवता के साथ उत्कीर्ण है। शिल्पियों ने जिस कुशलता के साथ प्रकृति और मानव-जीवन की अनेकरूपता का चित्रण पत्थर पर किया है. वह अत्यन्त सराहनीय है। बोरोबुदुर के अतिरिक्त नवीं शताब्दी में निर्मित परंबनम् के तीन विशाल मन्दिर भी उल्लेखनीय हैं। ये क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और शिव के हैं। तीसरे मन्दिर पर रामायण की सारी कथा उकेरी हुई है। इसे देखने पर महाकाव्य की घटनाएँ हमारी आँखों के सामने मूर्त हो जाती हैं। मल्लम् नगर के समीप जागो का बौद्ध मन्दिर है, जिस पर कृष्ण लीलाओं का सुन्दर प्रदर्शन है। वास्तव में सुदूर पूर्व के ये मन्दिर हिन्दू और बौद्ध धर्म के समन्वय के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। मध्यकाल के इमारती पत्थर हिन्दचीन तथा हिन्देशिया में बहुलता से उपलब्ध हुए हैं। इनमें से कुछ तो मन्दिरों के हैं और शेष मकानों के इन पर भारतीय अलंकरण-चिन्ह कमल, मंगल-घट कीर्तिमुख, मकर, पशु-पक्षी, लता आदि-बड़े कलात्मक एवं प्रभावोत्पादक ढंग से अंकित मिलते हैं।

श्रीलंका की वास्तु परम्परा

दक्षिण में लंका की प्राचीन वास्तुकला पर भी भारतीय स्थापत्य की पूरी छाप है। अशोक समकालीन राजा देवानांपिय तिस्स ने महेन्द्र और संघमित्रा के सम्मानार्थ एक महाविहार की स्थापना की जो सिंहल में बौद्ध धर्म का एक प्रधान केन्द्र बन गया। अनुराधापुर तथा पोलन्नरुव में अनेक बौद्ध स्तूप अब भी विद्यमान हैं। ई. पूर्व 100 के लगभग अनुराधपुर में जिस दीर्घाकार स्तूप (महाथूप) का निर्माण हुआ, उसके गोले की ऊँचाई 270 फुट है। ईसवी चौथी शती में सिंहल के राजा मेघवर्ण ने जेतवनाराम का निर्माण कराया। मध्यकाल में हिन्दू धर्म सिंहल में बहुत फैला 10वीं-11वीं शती में जब सिंहल चोल शासकों के आधिपत्य में गया. तब वहाँ घोल-शैली के हिन्दू-मन्दिरों का निर्माण हुआ। कुछ मन्दिरों में बड़े ही सुन्दर अलंकृत विमान मिलते हैं। लंका में सिगरिय नामक स्थान पर राजा काश्यप के प्रासाद मिले हैं, जिनके भित्तिचित्र उसी प्रकार के हैं जैसे कि हमें अजन्ता में मिले हैं। भारतीय स्थापत्य के विभिन्न अंगों का विकास विदेशों में दीर्घकाल तक हुआ। भारतीय संस्कृति ने अपनी उदारता के कारण अन्य क्षेत्रों की तरह वास्तु-कला के क्षेत्र में भी अपना स्थायी प्रभाव स्थापित किया। शताब्दियों तक विभिन्न देशों के कलाकार भारतीय कला के सिद्धान्तों से प्रेरणा ग्रहण कर अपनी कृतियों को

मण्डित करते रहे। भारतीय प्रभाव की मूर्तरूप इमारतें एशिया के अनेक देशों में अब तक विद्यमान हैं, जो भारत की सांस्कृतिक विजय की मधुर स्मृति संजोये हुए हैं। विश्व को भारतीय वास्तुकला की देन-मिश्र के पिरामिडों में कुछ स्थलों पर वैष्णवतिलक लगाये हुए कारीगरों के चित्र खुदे हुए पाये गये हैं, जो इस बात के प्रमाण हैं कि उन पिरामिडों के निर्माता भारतीय ही थे। मुस्लिमतीर्थ मक्का में भी भारतीय वास्तुविदों ने विशाल मन्दिर बनाया था जिसमें हरिहरेश्वर विम्ब (चौकोर पत्थर) के साथ वर्ष के 360 दिनों (सूर्य के अंशों) की प्रतीक 360 मूर्तियाँ रखी गयी थीं। इटली की वेटिकन नगरी में आज भी बड़े-बड़े शिवलिंग खड़े हुए हैं। अमेरिका में पुरातत्त्व खुदाईयों में कुछ स्थलों पर गणेश जी की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। अफगानिस्तान की विशाल बुद्ध प्रतिमा भारतीय वास्तुकला का जीता जागता नमूना है। पूर्व के बौद्ध मन्दिरों पर भारतीय वास्तुकला का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

प्रागैतिहासिक अवशेष, जिनका वास्तुकीय की अपेक्षा पुरातात्विक महत्व ही अधिक है, प्राय: एकाश्मक (जैसे कुस्तुंतुनिया, उत्तरी फ्रांस, इंग्लैंड, या भारत में), स्तूप (जो शायद मिस्र के पिरामिड या वेल्स, स्काटलैंड और आयरलैंड के छत्ताकुटीर जैसे ही बने) तथा स्विट्जरलैंड, इटली, या आयरलैंड में मिले सरोवर निवासों के रूप में हैं। बाद में धीरे-धीरे इनका विकास होता गया।

चीनी वास्तु परम्परा

चीनी वास्तुशास्त्रियो द्वारा शोधित वास्तुशास्त्र फेंगशुई के नाम से भी प्रसिद्ध है, यह वहां के ताओवादी धर्मं तथा दार्शनिक जीवन पर आधारित है । चीनी भाषा में फेंग का अर्थ हवा एवं सुई का अर्थ पानी या जल है । इस प्रकार फेंगसुई का अर्थ हवा और जल हुआ । साधारण भाषा में हम यह भी कह सकते हैं कि जीवन में जलवायु का उचित सामंजस्य या प्रभाव स्थापित करवाना ही फेंगसुई परम्परा का मुख्य उद्देश्य है । अर्थात जलवायु, वातावरण, परिवेश, स्थिति या देश-काल-परिस्थिति के अनुसार उसके साथ सही प्रकार से सम्बन्ध स्थापित कर रहे जीवन की कला को ही चीनी विद्वानों ने फेंगसुई का नाम दिया है । चीनी वास्तु शास्त्र परम्परा में मुख्यतः सप्तावश्यक वार्ता को उद्धृत किया जाता है या सात प्रकार की शुभ बातों का ध्यान रखा जाता है -

1. प्रकाश
2. आरोग्यता
3. पर्यावरणीय संतुलन
4. अलोभ
5. अहंकार रिक्तता
6. असूया
7. बुद्धिमत्ता

इन्ही सप्त तथ्यों के आधार पर फेंगसूई परम्परा में जीवन जीना चाहिए । इसी से सकारात्मक ऊर्जा का संचार होता है, अर्थात इस सप्ताचरण को जीवन में सही मायने में स्थापित कर लेने से सप्त सकारात्मक उर्जा का संचार भी होता है । चीनी वास्तु में बौद्ध और मुस्लिम प्रभाव स्पष्ट हैं। भारत के तोरणों की भाँति पत्थर या लकड़ी के द्वार चीनी वास्तु की विशेषता हैं। एक दूसरे के

ऊपर अनेक छतें बनाकर ऊँची इमारतों में भी चौड़ाई का आभास पैदा किया जाता है। यद्यपि पत्थर भी वहँ मिलता है, फिर भी इमारतों में लकड़ी और ईंट का प्रयोग ही प्राय: हुआ है, क्योंकि मिस्रवालों की भाँति स्थायित्व उनका लक्ष्य न था। पीकिंग में महामकर मन्दिर (1420) और ग्रीष्म प्रासाद का निद्रामग्न बुद्ध मन्दिर तथा 17 डाटों वाला संगमर्मर का पुल, कैंटन में हो'नन मन्दिर (918), नानकिन में पगोडा (1412) कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। 1400 मील लंबी प्राचीर तो विश्वविख्यात ही है।

अफ्रीका

भारत की सिंधु घाटी सभ्यता के बाद, प्राचीनता में मिस्र, यूनान और रोम का नाम लिया जाता है। पाश्चात्य वस्तुकला में ये ही तीन देश अग्रणी रहे। सादे और आवर्तक मिस्री वास्तु के बाद यूनान की अति विकसित मन्दिर -निर्माण-कला में और फिर उसे बाद रोमन साम्राज्य की विविध सार्वजनिक निर्माण के लिए आवश्यक जटिल पद्धतियों में, वास्तु के क्रमिक विकास का इतिहास मिलता है। मिस्र में घर अस्थायी निवास समझे जाते थे और कब्रें स्थायी। इसी विचारधारा के पोषण सम्राटों के लिए निर्मित अति विशाल, भारी भरकम पिरामिडों और रहस्यपूर्ण मन्दिरों में मिलता है। इसे विपरीत यूनानी मन्दिर जनता के लिए बने और प्रस्तरकला में सुंदरता आई। साहित्य, संगीत और कला की उन्नति के साथ साथ रंगमंच, क्रीड़ांगण और मल्लशालाएँ भी विकसि हुइ। संगमर्मर के प्रयोग से कृतियों में सफाई और बारीकी आई। सौंदर्यप्रिय यूनानियों ने भारतीय वास्तुकों की भांति ही, किन्तु बहुत पहले ही, स्वतन्त्र रूप से, स्तंभों की डोरिक, आयोनिक और कोरिंथियन नामक विशिष्ट शैलियाँ विकसित की थीं। किन्तु जब 146 ई.पू. में यूनान रामन साम्राज्य का अंग हो गया, तब उसका स्वतन्त्र प्रभुत्व भी समाप्त होगा। हाँ, उसका प्रभाव रोमन कला में अन्त तक अवश्य बना रहा।

रोमन वास्तु परम्परा

रोमन वास्तु में साम्राज्य की शान शौकत झलकती है। भव्य मन्दिरों के अतिरिक्त सड़कों, विजयद्वारों, पुलों आदि अनेक जनोपयोगी निर्माण कार्यों में रोमन शैली का समावेश हुआ। इस प्रकार रोमन वास्तु सारे यूरोप में फैला और यूरोपीय वास्तु का आधार बना। रोमन साम्राज्य के पतन के साथ ही इस महानद्य सभ्यता और उत्कृष्ट वास्तुकला का अध्याय भी समाप्त हो गया। किन्तु जिद्दा से जो ईसाई धर्म साम्राज्य भर में फैल चुका था, उसका प्रभुत्व बढ़ता रहा। कुछ काल पश्चात् 8वीं शती ई. में बड़े बड़े गिरजाघर बने, जिनमें "रोमनेस्क" नाम से उत्तरकालीन रोमन वास्तु का पुनरुत्थान हुआ। गिरजा घरों का जनजीवन में महत्वपूर्ण स्थान रहा और इन्हीं के अतंर्गत शिक्षा संस्थाएँ, पुस्तकालय, संग्रहालय और चित्रशालाएँ स्थापित हुईं। गिरजों की य कला गॉथिक शैली कहलाई, जो मध्ययुगीन सभ्यता का दर्पण कहीं जा सकती है। महत्वपूर्ण निर्माण सिद्धान्तों के अनुसार उस समय तक की यूरोपीय वास्तुकला की मुख्य तीन शैलियाँ, 1. स्तम्भ और धरनों वाली यूनानी शैली, 2. स्तम्भ और अर्धवृत्त डाटवाली रोमन या मिश्रित शैली और 3. नोकदार डाटोंवाली गॉथिक या चापीय शैली, इतिहास प्रसिद्ध हैं।

युरोपीय वास्तु परम्परा

वास्तुशैलियों के विकास में फिर कुछ विराम आया। इसी बीच पुनरुद्धार शैली का पथ प्रशस्त करनेवाली परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई। बारूद के आविष्कार से समर पद्धतियाँ और फलत: किलों के विन्यास बदल गए। नई दुनिया की खोज हो चुकी थी। सन् 1453 ई. में कुस्तुंतुनिया के पतन

के बाद यूरोप में यूनानियों के आप्रवास का भी प्रभाव पड़ा। फलत: इटली के ही समृद्ध और व्यापारिक नगर फ्लोरेंस में एक प्रतिद्वंद्वी शैली का जन्म हुआ। नए गिरजाघरों और राजमहलों में गॉथिक युग की नुकीली डाटें, प्रतिच्छेदी मेहरावें और ऊर्ध्वाधर लक्षण नहीं, बल्कि चिरप्रतिष्ठित रोमन शैली के अर्धवृत्ताकार गुंबद ही परिष्कृत रूपों में अपनाए गए। पुनरुद्धार का यह आंदोलन इटली से फ्रांस, जर्मनी, स्पेन, नीदरलैंड और इंग्लैंड तक फैला। हाँ, कालक्षेप के साथ इंग्लैंड में यह धीरे धीरे ही फैला, जिससे वहाँ दोनों शैलियों का मिश्रण दिखाई देता है। उन्नीसवीं शती में परम्परागत वास्तुशैलियों में, मुख्यतया वास्तुकों की व्यक्तिगत रुचि के कारण, अनेक परिवर्तन हुए और एक "शैली संघर्ष" ही उपस्थित हो गया। किन्तु वास्तुकला आज भी सामयिक विचारधारा का प्रतिनिधित्व करती है। यह संग्रहालयों, पाठशाओं, पुस्तकालयों, पठन केंद्रों, चिकित्सालयों, तरणतालों, स्नानागारों, विद्यालयों, चित्रशालाओं एवं कलाभवनों तथा वैज्ञानिक एवं जन-कल्याण-संस्थानों के निर्माण से स्पष्ट है। बीसवीं शती में पुनरुद्धार शैली सार्वजनिक भवनों और मार्गों आदि के लिए, तथा गॉथिक शैली गिरजाघरों और शिक्षालयों के लिए, विशेष रूप से प्रयुक्त होती है। निवास भवन सादी और उपयोगिता लक्षी शैली में ही पसन्द किए जाते हैं।

अमरीकी वास्तु परम्परा

अमरीकी वास्तु के विकास में तीन चरण स्पष्ट हैं। पहला है उपनिवेशीय काल (1775-83), प्रारम्भिक उपनिवेशों की स्थापना से क्रान्ति तक। इसमें यूरोपीय वास्तु से मिलता जुलता ही निर्माण हुआ है। दूसरा है आधुनिक काल (जिसे उपनिवेशोत्तर, राष्ट्रीय, या गणतन्त्रीय काल भी कहते हैं) क्रान्ति से शिकागो प्रदर्शनी (1893) तक। इसमें राजधानियों के उपयुक्त महत्वाकांक्षासूचक और स्मारकीय भवन बने। 19 वीं शती की यूरोप की "यूनानी चेतना" भी वहाँ पहुँची। तीसरा अर्वाचीन काल (1893 से अब तक) है, जिसमें यूरोपीय "शैलीसंघर्ष" की भाँति ही यहाँ भी कोई एक दो शैलियाँ युग का प्रतिनिधित्व करती हुई नहीं कही जा सकतीं। सामाजिक स्थिति और श्रमसेवी उपकरणों से प्रभावित निवासों में उपयेगितालक्षी शैली स्पष्ट है, जब कि गिरजाघरों में वही गॉथिक शैली समादृत है। हाँ कुछ न कुछ मौलिकता का समावेश सभी जगह अवश्य देखने में आता है। यह भी उल्लेखनीय है कि केवल दो तीन शताब्दियों में ही जितना द्रुत परिवर्तन यहाँ हुआ है, उतना संसार में अन्यत्र कहीं नहीं। आजकल गगनचुम्बी बहुमंजिली इमारतें अमरीका की विशेषता हैं।

अभ्यास प्रश्न –1

1. विश्वकर्मा के मानस पुत्रों की संख्या कितनी थी -

   अ. 2 ब. 4 स.5 द.8
2. अमरीकी वास्तु के विकास में कितने चरण माने गये हैं -

   अ. 2 ब. 4 स.5 द.3
3. यूरोपीय वास्तुकला की मुख्य कितनी शैलियां हैं -

   अ. 3 ब. 1 स. 4 द.8
4. जापान और दक्षिण अमेरिका के प्रदेशों में वास्तुशास्त्र का प्रचार-प्रसार किसने किया -

   अ. मय ब. श्वेतकर्मा स. पींगटकर्मा द. गौरकर्मा ने

अभ्यास प्रश्न –2

निम्नलिखित में से सत्य असत्य का निर्धारण कीजिये

1. विश्वकर्मा के चार पुत्र थे। ()
2. 14 द्वीपों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी है। ()
3. एशिया महाद्वीप में वास्तुशास्त्र की परम्परायें हैं। ()
4. श्वेतकर्मा ने ग्रीस-मिश्र और यूरोप के प्रदेशों में वास्तुशास्त्र की संरचनाएं नही बनाई ()

अभ्यास प्रश्न –3

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये –

1. कम्बोडिया के अंकोरथम नगर में .... परम्परा के मन्दिर हैं।
2. जापानी वास्तु परम्परा का मूल............वास्तु में अन्तर्निहित है।
3. सर्वप्रथम राजा पृथु के द्वारा............. वास्तु का प्रारम्भ हुआ।
4. भारतीय वास्तु परम्परा के उत्कृष्ट उदाहरण भारत से अन्यत्र .... है।

6.3 सारांश

उपर्युक्त इकाई के अध्ययन से यह सारांश रूप में कहा जा सकता है कि एक अलग सा भूमिखण्ड दिखायी पड़ने पर भी भारत संसार से कभी अलग नहीं रहा है। बहुत प्राचीनकाल में भारत के निवासी अपने पड़ोसी देशों के साथ स्थल तथा जल मार्गो द्वारा यातायात सम्बन्ध स्थापित कर चुके थे। पश्चिम में प्राचीन भारत के व्यापारिक सम्बन्ध अफगानिस्तान, ईरान, बेबीलोन, मिस्र और यूनान के साथ उत्तर में मध्य एशिया: पूर्व में चीन के साथ तथा दक्षिण-पूर्व एवं दक्षिण में बर्मा, हिन्दचीन, हिन्देशिया तथा लंका के साथ रहे। उक्त देशों के साथ एक दीर्घकाल तक आर्थिक सम्बन्ध स्थापित रहने के कारण भारत और इन देशों के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का होना अनिवार्य था। मौर्य सम्राट् अशोक के समय से भारत के द्वारा सांस्कृतिक सम्पर्क बढ़ाने की प्रवृत्ति का स्पष्ट पता चलता है। अशोक ने 'वसुधैव कुटुम्बकम' की उदार भारतीय भावना को कार्य रूप में परिणत करने का सराहनीय प्रयत्न किया। उसने लंका, चर्मा असीरिया, मिस्र, मेसीडोनिया, एपीरस आदि देशों में अनेक विद्वान् भेजे. जिन्होंने इन देशों को कल्याणकारी धर्म का सन्देश सुनाया। अशोक के बाद वैरोचन, काश्यप, मातंग, धर्मरक्ष, आर्यकाल, कुमारजीव, गुणवर्मा, होदो, शान्तिरक्षित, दीपंकर, श्रीज्ञान आदि विद्वानों ने चीन, जापान, तिब्बत आदि देशों में संस्कृति प्रचार का कार्य बड़ी लगन के साथ किया। धर्म-प्रचारकों की यह परम्परा 12वीं शताब्दी के अन्त तक जारी रही। इन लोगों ने कितने ही भारतीय ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद कर धर्म के साथ-साथ साहित्य के संरक्षण एवं अभिवृद्धि में भी विपुल योग दिया।

वस्तुतः जीवन के विविध इन्द्रियों तथा मन का सीधा सम्बन्ध प्रकृति के साथ है यदि आप विचार करेंगे तो पाएंगे कि मनुष्य के नेत्र से अधिक दूर तक देखने की क्षमता कुछ अन्य जीवो में जैसे उल्लू गीत आदमी होती है उसी प्रकार मनुष्य की नासिका से अधिक सूंघने की शक्ति

भी अन्य जीवों जैसे कुत्ते आदमी होती है इसी प्रकार से अन्य जीवो में मानव की इन्द्रियों से अधिक सामर्थ्य हमें दिखाई देता है इसका एक कारण इन जीवो के प्रकृति के समीप रहना भी है आदि काल से ही भारत में एकान्तवास की परम्परा है। हमारे ऋषि मुनि भी अपने इन्द्रियों के सामर्थ्य में वृद्धि तथा मन पर नियन्त्रण हेतु वनों में कुटिया बनाकर रहते थे, प्रकृति के समीप से क्रांतदृष्टा ऋषि भी अपनी इन्द्रियों के सामर्थ्य का असीमित विकास कर लेते थे। भारतीय वास्तु शास्त्र में भी भवन निर्माण के सम्बन्ध में ऐसे भवन की कल्पना की गई है जो मानव मात्र को प्राकृतिक आसामी प्रदान करें उस भवन में रहकर भी मानव को प्राकृतिक शक्तियों का लाभ प्राप्त होता है। भारतीय वास्तुशास्त्र मुख्य रूप से प्राकृतिक शक्तियों के साथ भवन और मानव के सामंजस्य के इसी सिद्धान्त पर काम करता है यत पिंण्डे तथा ब्रह्माण्डे इस सिद्धान्त के अनुपालन में भारतीय वास्तु शास्त्र ने ब्रह्माण्ड मानव और भवन में निहित पंचमहाभूतों के समन्वय की कल्पना की और प्रकृति के साथ समन्वय कर भवन निर्माण का चिन्तन किया जब तक मनुष्य प्रकृति के साथ समन्वय कर अपना जीवन यापन करता रहा तब तक प्रकृति ने मानव को अपना आशीर्वाद प्रदान कर उसे सुख में जीवन प्रदान किया और जब से मनुष्य ने प्रकृति पर विजय प्राप्त करने के लिए उसके विरोध में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया तब से उसे सदैव ही दुख झेलना पड़ा है इसका प्रमाण हमें समरांगणसूत्रधार के सहदेव आधिकार में वर्णित इस कथा से प्राप्त होता है जिसमें आधुनिक विकास सिद्धान्त के प्रतिकूल यह कहा गया है कि प्राचीन काल में मानव और देवता एक साथ रहते थे। मनुष्य देवताओं के उपकार को भूलकर अहंकार से युक्त होकर अपने आप को देवताओं से भी श्रेष्ठ समझने लगे देवताओं ने मानव के इन कार्यो को कुछ समय तक देखा परन्तु बार-बार मानव के द्वारा अवज्ञा होने पर देवताओं ने मानव के ऊपर अपने उपकार करना बन्द कर दिया। इस प्रकार पृथ्वी पर भवन निर्माण की परम्परा का सूत्रपात हुआ भवन निर्माण और पृथ्वी के नियोजन किया कथा पौराणिक ग्रनथों में वर्णित है इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि भारतीय वास्तुशास्त्र का आरम्भ पौराणिक युग से ही हुआ। वैदिक साहित्य काल में भी अनेक स्थलों पर भवन निर्माण वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित तत्व यत्र तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। इस प्रकार आधुनिक काल में व्यापारियों तथा धर्मप्रचारकों के विदेशों में आवागमन के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति की व्यापकता बढ़ी एशिया महाद्वीप के अनेक देशों में न केवल यहाँ की भाषा, रहन-सहन और आचार-विचार को अपनाया गया, अपितु भारतीय स्थापत्य, मूर्तिकला और चित्रकला का भी वहाँ प्रसार हुआ। भारत ने स्तूप तथा मन्दिर के रूप में स्थापत्य के दो प्रमुख धार्मिक रूपों को जन्म दिया। इन दोनों के उद्भव तथा विभिन्न शैलियों में उनके विकास की कथा पिछले अध्यायों में दी गयी है। स्तूप तथा मन्दिर का निर्माण भारत की सीमाओं तक ही आबद्ध नहीं रहा। बहुत प्राचीन काल से भारत के पड़ोसी देशों ने इन दोनों को अपनाना आरम्भ किया और अपनी आवश्यकताओं के अनुसार उन्हें आगे बढ़ाया।

6.4 शब्दावली

महाद्वीप - **सप्तद्वीपा वसुन्धरा** अर्थात् सात द्वीपों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी।

भारतेतर - भारत से अन्यत्र।

दृष्टिगोचर - आंखों से दिखायी देना।

परम्परा - जो पीढियों से चली आ रही हो।

अर्वाचीन काल - वर्तमान या आधुनिक समय

6.5 अभ्यास प्रश्न की उत्तरमाला

उत्तरमाला

अभ्यास प्रश्न –1

1. ब. 4
2. द. 3
3. अ. 3
4. द. गौरकर्मा

अभ्यास प्रश्न –2

1. सत्य
2. असत्य
3. सत्य
4. असत्य

अभ्यास प्रश्न –3

1. भारतीय परम्परा
2. चीनी वास्तु परम्परा
3. कृषि
4. मिलते

6.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

भारतीय वास्तुशास्त्र

भारतीय वास्तु का इतिहास

वास्तुसौख्यम्

वास्तुकलानिधि

वास्तुकला का इतिहास

स्थापत्यकला का इतिहास